गुरुकुल पत्रिका

शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक :

डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
वेदाचार्य एम. ए., पी-एच.डी.
प्रोफेसर—वेद विभाग
एवं
निदेशक– श्रद्धानन्द वैदिक शोध एवं प्रकाशन केन्द्र

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

पौष, माघ, फाल्गुन	वर्ष– ४७	संयुक्तांक दिस० १९९५ जन० फर० १९९६

मूल्य— २५ रुपये मात्र

सम्पादक मण्डल :

मुख्य संरक्षक :	**डॉ० धर्मपाल** कुलपति
संरक्षक :	**प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री** आचार्य एवं उपकुलपति
परामर्शदाता :	**डॉ० विष्णुदत्त राकेश** प्रोफेसर-हिन्दी विभाग
सह सम्पादक :	**डॉ० विजयपाल शास्त्री** रीडर एवं अध्यक्ष-दर्शन विभाग
व्यवसाय प्रबन्धक :	**डॉ० जगदीश विद्यालंकार** पुस्तकालयाध्यक्ष
प्रबन्धक :	**श्री हंसराज जोशी**
प्रकाशक :	**डॉ० जयदेव वेदालंकार** कुलसचिव गु० का० वि०वि०, हरिद्वार
मूल्य :	२५ रुपये (वार्षिक)

मुद्रकः– किरण प्रिंटिंग प्रैस, कनखल हरिद्वार ☎ : 425975

वैदिक वर्ण-व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार

राष्ट्रीय विद्वद्-गोष्ठी

(अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ (देहली) के आर्थिक सौजन्य से)

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति **डॉ. धर्मपाल जी** की प्रेरणा से अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ के अध्यक्ष **प्रो० शेर सिंह** ने उक्त संगोष्ठी के आयोजन हेतु विश्वविद्यालय को पन्द्रह हजार रुपये की राशि सहृदय भाव से प्रदान की। वेदपीठ के अधिकारी गोष्ठी में निरन्तर उपस्थित रहे। इस गोष्ठी में विश्वविद्यालय के कुलाधिपति **प० सूर्यदेव जी** तथा परिद्रष्टा जस्टिस **महावीर सिंह जी** की उपस्थिति से संगोष्ठी और भी निखर उठी। भारतवर्ष के लगभग 12 विश्वविद्यालयों से विद्वान अतिथियों ने संगोष्ठी को सफल करने में स्मरणीय योगदान दिया। उस समय जिन विद्वानों के लेख लिपिबद्ध रूप मे प्राप्त हुए उसको प्रस्तुत पत्रिका में प्रकाशित किया जा रहा है, उक्त संगोष्ठी के संयोजक प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री थे।

समस्त दानी महानुभावों व विद्वानो तथा महापुरुषों के प्रति हम आभार प्रकट करते हैं।

सम्पादक :—
प्रो० भारत भूषण विद्यालंकार

विषय सूची :–

श्रुति सुधा

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व ॥ यजु. ३६.३ ॥

ऋषि-आसुरि : देवता-अग्नि : छन्द-भूरिग्बृहती

हे (गृहपते) घरों के पालन करने वाले (अग्ने) परमेश्वर ! जो (अयम्) यह (गृहपतिः) स्थान विशेषों के पालन हेतु (गार्हपत्यः) घर के पालन करने वालों के साथ संयुक्त (प्रजाया वसुवित्तमः) प्रजा के लिए सब प्रकार धन प्राप्त कराने वाले (अग्निः) प्रकाश स्वरुप हैं, सो आप (द्युम्नम्) सुख और प्रकाश से युक्त धन को (अभ्यायच्छस्व) अच्छी प्रकार दीजिये, तथा (सहः) उत्तम बल पराक्रम (अभि) अच्छी प्रकार दीजिये ।

(महर्षि दयानन्द यजुर्वेद भाष्य)

सम्पादकीय

अग्ने नैयविर्तो कुरु

गुरुकुल पत्रिका का वर्तमान अंक पाठकों के सम्मुख प्रमुख करते हुए प्रसन्नता हो रही है। किसी भी पत्रिका का अपना विशेष स्वरुप होता है। भारतीय सभ्यता-संस्कृति व प्राच्य विद्याओं से सम्बन्धित अध्ययनों को प्रोत्साहित करना वं उनके सम्बन्ध मे विचारणीय विषयो को प्रस्तुत करना पत्रिका का मुख्य उद्देश्य है परन्तु इसका तात्पर्य वैज्ञानिक भव्य अध्ययनो की उपेक्षा नहीं है। समाज के सम्मुख उपस्थित समस्याओ व उनके समाधान से विमुख होना कायरता है। इसके लिए तो एक ही संकल्प लेना होगा "अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्"।

वर्तमान मे सर्वत्र मनु एवं वर्ण व्यवस्था समाज को बहुत अधिक विचलित कर रही है। उस पर विभिन्न विद्वानो को अपने भाव अभिव्यक्त करने के लिए गोष्ठी के रुप मे आमन्त्रित किया गया और उनके विचारो को, सामान्य जन तक पहुचाने का प्रयास, पत्रिका के रुप में उपलब्ध है। विभिन्न विद्वानों ने वर्ण के साथ जाति पर भी विचार किया है। प्रायः ही विद्वानों ने वैदिक वर्ण व्यवस्था को जन्मगत व्यवस्था से पृथक् माना है और उसे जाति के रुप मे प्रतिपादित किया है। अनेको वक्ताओ ने जो प्रमाण प्रस्तुत किये वे बार-बार उल्लेखित होते रहे, प्रकाशन के समय पुनरुक्ति दोष से बचने तथा कलेवर की सीमा को देखते हुए बहुत कुछ काँट—छांट भी करनी पड़ी है। कुछ लेखो को स्थान नही भी दिया जा सका।

गत अंक मे भी दर्शन की समस्याओ उनके समाधान तथा दार्शनिक विषयों को उठाया गया था परन्तु कलेवर की दृष्टि से उनके संक्षिप्त रुप ही दिये जा सके थे। पाठको एव शोध-कर्त्ताओ को एक विषय पर सम्पूर्ण सामग्री एकत्र मिल सके ताकि शोध ही दृष्टि से पत्रिका संग्रहणीय बन सके।

वर्ण व्यवस्था से सम्बन्धित इस गोष्ठी को संयोजित किया श्री वेदप्रकाश शास्त्री, डीन प्राच्य विद्यासंकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, ने श्री शास्त्री जी एवं उनके सभी सहयोगियो तथा लेखको व उन मनीषियो के, जिनको स्थान-स्थान पर उद्धृत किया गया है, आभारी है।

सम्पादक :
भारतभूषण विद्यालंकार

वर्णव्यवस्था का वैदिक स्वरूप

—डा० रामनाथ वेदालंकार

भारतीय संस्कृति में समाज को ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों में विभाजित किया गया है। इसका मूल वैदिक संहिताएं ही है। परवर्ती ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् सूत्रग्रन्थ, व्याकरण शास्त्र, स्मृतिग्रन्थ रामायण महाभारत महाकाव्य रुपक गद्यकाव्य, पुराण आदि समग्र संस्कृत साहित्य मे यह वर्णाश्रम व्यवस्था माला में सूत्र के समान अनुस्यूत है। यहां हम केवल वैदिक वर्णव्यवस्था पर विचार करेंगे।

वेदों में चारों वर्णों के नाम

ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त तथा यजुर्वेदीय पुरुषमेधाध्याय का निम्नलिखित मन्त्र बहुचर्चित है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य. कृत: ।
ऊरु तदस्य यद् वैश्य: पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥
ऋ० १०,६०,१२, वा० य० ३१, ११

निरवयव परम पुरुष परमेश्वर की उपासना के समय उसके अगों की कल्पना के प्रसग मे पठित यह मन्त्र समाज के ब्राह्मणादि चारों वर्णों के कर्तव्यो पर भी उत्तम प्रकाश डालता हैं। अथर्ववेद मे यह मन्त्र (बाहू राजन्योऽभवत्। मध्यं तदस्य यद् वैश्य: अ० १६.६.६), इस पाठभेद के साथ आया है। भाव यह है कि समाज मे ब्राह्मण मुख है, राजन्य अर्थात् क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य ऊरु या देह का मध्यभाग है शूद्र पैर हैं। मुख का कार्य भाषण करना होता है, ऐसे ही समाज में ब्राह्मण भी भाषण करता है अर्थात् अध्यापन करता या उपदेश देता है। मुख चेहरे को भी कहते है। चेहरे मे ही ज्ञान की साधनभूत सब ज्ञानेन्द्रिया सनिविष्ट हैं। जैसे चेहरा ज्ञानेन्द्रियो द्वारा ज्ञान का साधन होता है, वैसे ही ब्राह्मण भी अध्यापन द्वारा शिष्यो को ज्ञान प्रदान करता है। जैसे बाहुएं रक्षा करती हैं, वैसे ही क्षत्रिय भी रक्षा करता है।

वैश्य ऊरु या देह को मध्यभाग इस हेतु से हैं कि जैसे ऊरु स्तम्भ बनकर देह को धारण करते हैं, ऐसे ही आर्थिक दृष्टि से वैश्य सबको धारण करता है, अथवा जैसे शरीर का मध्यभाग अर्थात् उदर भोजन को सचित करके पोषक तत्त्व को सारे शरीर मे पहुचा देता है, वैसे ही वैश्य अर्थ सचित करके उसे शेष तीनो वर्णों मे पहुचाता है। शूद्र पैर स्थानीय इस कारण है कि पैर जैसे सारे देह की सेवा करता है, वैसे ही शूद्र शेष सब वर्णो का सेवक होता है।

वेदो मे तीन मन्त्र और हैं, जिनमे समाज के इन चारो वर्णो का एक साथ उल्लेख हुआ है—

रुच नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ।।य० १८ ४८

प्रिय मा कृणु देवेषु प्रिय राजसु मा कृणु।
प्रिय सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्यें ॥ अ० १९ ६२.१

प्रिय मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्या
शूद्राय चार्याय च। अ० १९. ३२ ८

आर्य और दास वर्ण

वेदो मे ब्राह्मणादि वर्णो के साथ स्पष्ट वर्ण शब्द प्रयुक्त नही हुआ है। ऋग्वेद मे दो वर्णो का उल्लेख मिलता है– एक आर्य वर्ण और दूसरा दास या दस्यु वर्ण। आर्य वर्ण मे द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आते है। अथर्ववेद मे **'यश्च शूद्र उतार्य'** **'उत शूद्रमुतार्यम्'** (अ० ४ २०. ४, ८) कह कर शूद्र को आर्य से पृथक् माना गया है। वस्तुत वर्ण तीन ही हैं, जिनका वरण किया जाता है। शूद्र को तत्सहचारी होने से लाक्षणिक रुप से वर्ण मान लिया गया। दास या दस्यु वर्ण के वे लोग होते है, जो ब्राह्मणत्व आदि किसी भी मर्यादा का पालन न करते हुए समाज मे हिंसा–उपद्रव

मचाते है (दसु उपक्षये) । राजा को चाहिए कि दस्युओं का विनाश करके आर्य वर्ण की रक्षा करे– **हत्वी दस्यून् आर्य वर्णमावत्** (ऋ० ३. ३४. ९) । वह दास वर्ण को कैद करके बिचली गुफा या तहखाने मे डाल दे– **यो दास वर्णमधरं गुहाकः** (ऋ. २. १२. ४) । दास का सिर शस्त्र से चकनाचूर कर दे– **शिरो दासस्य सं पिण्णम् वधेन** (ऋ० ४. १८. ९) । **शिरो दासस्य नमुचेर्मदायन्** (ऋ० ५. ३०. ८) प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या शूद्र की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य नहीं है, जो केवल आर्य वर्ण की रक्षा के लिए कहा गया है । इसका उत्तर यह है कि शूद्र क्योकि आर्यो का सेवक है, अतः आर्यो का नाम लेने से उसका स्वत. ग्रहण हो जाता है ।

कतिपय विद्वानो की यह स्थापना है कि दस्यु तो हिंसक उपद्रवी मनुष्य का वाचक है, किन्तु दास से शूद्र अभिप्रेत है । परन्तु यदि दास शूद्र हे तो शूद्र ने क्या बिगाड़ा है कि उसे नष्ट करने का विधान किया जाये ! वेद तो यह कहता है कि शूद्र के प्रति यदि हमसे कोई अपराध हो जाता है, तो उसका प्रायश्चित करे– **यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं तस्यावयजनमसि** (य० २०. १७) । इसके अतिरिक्त निम्न मन्त्र मे दास और दस्यु दोनो को एक माना गया है, उनकी परिभाषा भी दी गयी है तथा उनके प्रति क्या व्यवहार होना चाहिए, यह भी बताया गया है ।

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः ।
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय ॥ ऋ० १०. २२. ८

दस्यु या दास वह है जो निकम्मा है, नास्तिक है, विपरीत कर्म हिंसा आदि करने वाला है, मनुष्यो की श्रेणी मे आने योग्य नही है । अमित्रहन्ता राजा का कर्त्तव्य है कि उसके शस्त्र को या उससे होने वाले वध को विनष्ट कर दे ।

ब्राह्मण के कर्म

वेदो मे ब्राह्मण अर्थ को द्योतित करने के लिए ब्रह्मन् ब्राह्मण, ग्रावन्, देव, कण्व विपश्चित्, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति वाचस्पति आदि शब्द प्रयुक्त हुए है । ब्राह्मण शब्द वेद मे एक आद्युदात्त उपलब्ध होता है, जो नपुसक लिंग मे है तथा ब्रह्मज्ञान का वाचक है दूसरा अन्तोदात्त मिलता है जो ब्रह्मज्ञानी या ब्राह्मण मनुष्य अर्थ को देता है ।

ब्राह्मण के प्रमुख वेदोक्त कर्त्तव्य हैं— अध्यापन करना, उपदेश देना, राजा को परामर्श देना, चिकित्सा करना, पौरोहित्य करना और दान लेना। अथर्व ५.२४ में पुरोधा, प्रतिष्ठा, चित्ति, आकूति, आशीः और देवहूति ब्रह्मकर्म कहे गये हैं। यहां 'पुरोधा, मे पौरोहित्य, 'प्रतिष्ठा' राष्ट्र का यश, 'चित्ति' से ज्ञान देना, 'आकूति' से मनोबल उत्पन्न करना 'आशी.' से आशीर्वाद देना और 'देवहूति' से स्वयं यज्ञ करना अभिप्रेत है।

ब्राह्मण का प्रथम कर्म - अध्यापन

शिक्षक ब्राह्मण को कैसा विद्वान् और शिक्षापटु होना चाहिए इस विषय में वेद का कथन है—

सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसाऽनुशासति ।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥ ऋ० ६. ५४. १

प्रजा पूषा अर्थात् पुष्टिप्रद राजा से कह रही है कि आप हमें ऐसा विद्वान गुरु प्राप्त कराइये जो जटिल से जटिल विषय को भी जल्दी और इस प्रकार पढ़ाये कि पाठ्य विषय हस्तामलकवत् स्पष्ट होता चले।

अध्यापन के विषय मे अथर्ववेद प्रथम काण्ड का प्रथम सूक्त विशेष रूप से अवलोकनीय है, जिसमे आचार्य को वाचस्पति और वसोष्पति नामो से स्मरण किया गया है। वाचस्पति से यह सूचित होता है कि शिक्षक का वाणी पर अधिकार होना चाहिए और 'वसोष्पति' उसके विद्याधन के स्वामित्व को व्यक्त करता है।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥१॥

जो सत्व, रजस्, तमस् इन तीन में समवेत (त्रिषु सप्तत: षप समवाये) महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्र आदि तत्व विविध प्राणी सूर्य, चन्द्र, तारागण वृक्ष वनस्पति आदि विभिन्न रूपो को धारण किये हुए चारो ओर विद्यमान है, उनके स्वरूप को वाचस्पति ब्राह्मण आचार्य हमें हृदयंगम कराये।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥

हे वाचस्पति आचार्य, आप दिव्य मन के साथ पुन पुन हमारे मध्य आइये। हे विद्याधन के अधिपति, आप हमे ऐसी रमण-पद्धति से पढाइये कि श्रवण किया हुआ शास्त्र सदा हमारे अन्दर बना रहे।

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥

जैसे प्रत्यञ्चा से दोनो धनुष्कोटियों को तान देते है ऐसे ही वाचस्पति ब्राह्मण विद्या के दोनों सिरों (आरम्भ और अन्त) को हमारे अन्दर तान दे, जिससे सुना हुआ शास्त्रोपदेश कभी विस्मृत न हो।

इस सूक्त से आचार्य के गुण, अध्यापन पद्धति गुरुशिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

ब्राह्मण गुरु का कार्य विद्या पढाने तक ही सीमित नही है अपितु शिष्य के मन् वाणी आदि में कोई दोष है, तो उन्हें भी वह दूर करता है—

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।
विश्वैस्तद् देवैः सह संविदानः संदधातु बृहस्पतिः ॥ अ० १९.४०.१

ब्रह्मचारी कह रहा है कि मेरे मन, वाणी आदि में यदि कोई छिद्र हैं, जिससे सरस्वती मुझसे क्रुद्ध हो गयी है, तो सब अन्य गुरुजनो के साथ मिल कर ब्राह्मण आचार्य उस छिद्र को भर देवे।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में कहा है कि ब्राह्मण की दो गुह्य निधियां होती है, एक अपरा विद्या, दूसरी परा विद्या। ब्रह्मचारी ब्राह्मण गुरु से अध्ययन करके तप मे उनकी रक्षा करता है—

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधीनिहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी ।। अ० ११ ५.१०

ब्राह्मण का द्वितीय कर्म–उपदेश देना

संन्यास लेने का अधिकार ब्राह्मण को ही है । ब्राह्मण संन्यासी, बनकर या संन्यास से पूर्व भी जनता को उपदेश करता है । वैदिक 'ग्रावा' शब्द का सामाजिक अर्थ उपदेशक विद्वान् ब्राह्मण होता है– 'गृणन्ति, उपदिशन्ति इति ग्रावाण. गुरवो विद्वास.' । 'विद्वांसो हि ग्रावाणः', श० ब्रा० ३.६ ३.१४ । उन्हे सम्बोधन करके वेद कहता है—

ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत दुर्मतिम् ।
उस्राः कर्तन भेषजम् ।। ऋ० १०.१७५.२

हे उपदेशक ब्राह्मणों, तुम समाज से दुर्गति को और दुर्मति को दूर करो । हे दुराचार छुड़ाने वालो, तुम विकृत समाज की उपदेश द्वारा चिकित्सा करो । उत्सारयन्ति पापदुराचारादिकं ये ते उस्राः) ।

ब्राह्मण का तृतीय कर्म–राजा को परामर्श देना

क्षत्रिय राजा को परामर्श देना भी ब्राह्मण का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है । राजनीतिज्ञ विद्वान ब्राह्मणो को राजा अपनी सभा और समिति का सदस्य बनाता है और उनसे वर्चस्विता तथा विज्ञान ग्रहण करता है—

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचस ।
एषामहं समासीनाना वर्चो विज्ञानमाददे । अ० ७ १ २३

वेद कहता है—

नैता ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गा जिघत्सो अनाद्याम् ।। अ० ५ १८.१

हे राजन् दिव्य प्रजाओं ने तुम्हें ब्राह्मण की वाणी रूप गाय दी है, वह खाने अर्थात् उपेक्षा करने के लिए नहीं दी। अतः उसकी उपेक्षा मत कर।

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
स तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्धे उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥ अ० ५.१८.५

जो राजा धनसंग्रह में ही लगा रहता है और नासमझी से ब्राह्मण को मृदु मान कर उसकी उपेक्षा करता है, उसके हृदय मे आग भभक उठती है अर्थात् स्वय वह पश्चाताप की आग मे जलता है और दोनों लोक अर्थात् नर-नारी उससे द्वेष करने लगते हैं।

तद् वै राष्ट्रमास्रवति नाव भिन्नामिवोदकम्।
ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ अ० ५ १६.८

ब्राह्मण की वाणी का अनादर उस राष्ट्र को जर्जर कर देता है, जैसे फूटी नौका को नदी का पानी। ब्राह्मण की जहा हिंसा अर्थात् उपेक्षा होती है उस राष्ट्र को दुर्गति विनष्ट कर देनी है।

इससे विपरीत जहा ब्रह्म और क्षत्र परस्पर मिलकर चलते हैं, वह राष्ट्र भाग्यशाली होता है—

यत्र ब्रह्म च क्षात्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषम् ॥ य० २०. २५

ब्राह्मण का चतुर्थ कर्म—चिकित्सा

वेद के अनुसार ब्राह्मण का एक कार्य रोगियो की चिकित्सा करना भी है। ऋग्वेद के औषधीसूक्त मे भिषक् का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः ॥ ऋ० १० ९७.६

अर्थात् वह ब्राह्मण भिषक् कहलाता है, जिसके पास जैसे राजा लोग अपनी अपनी स्थिति के अनुसार यथास्थान समिति मे बैठते है ऐसे ही ओषधियां गुणधर्मानुसार व्यवस्थित रुप से रखी रहती हैं, और जो रोग कृमि रुप राक्षसो को नष्ट करने वाला तथा रोगों को समूल उन्मूलित करने वाला होता है।

इसी सूक्त मे ओषधियो का अपने राजा सोम के साथ आलकारिक सवाद वर्णित हैं। वे राजा सोम को कहती है कि जिस रोगी पर ब्राह्मण वैद्य हमारा प्रयोग करता है उसे हम रोग से पार लगा देती हैं—

ओषधय स वदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्त राजन् पारयामसि ॥ मन्त्र २२

अथर्ववेद में अपामार्ग ओषधि को संबोधन करके कहा गया है कि हे ओषधि, तू मेधावी ब्राह्मण वैद्य के द्वारा प्रयुक्त होकर तेजस्विनी सेना के समान रोगी के पास पहुचती है, जिससे उसका रोगभय समाप्त हो जाता है—

ब्राह्मणेन पर्युक्ताऽसि कण्वेन नार्षदेन।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥ अ० ४ १९.२

परन्तु चिकित्सा एक मात्र ब्राह्मण का ही कर्तव्य नही है, उसे वैश्य भी कर सकता है। ऋग्वेद मे एक वैश्य गृहपति अपने परिवार के कार्यों का परिचय देता हुआ कह रहा है कि मै स्वय शिल्पी हू, मेरा पुत्र वैद्य है, मेरी माता भाड मे अनाज भूनती है या चक्की चलाती है। हम धन कमाने के लिए भिन्न-भिन्न व्यवसाय करते है।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवः ॥ ऋ.९११२.३

ब्राह्मण और वैश्य के द्वारा किये जाने वाले चिकित्सा कार्य में अन्तर यह है कि ब्राह्मण का सयुक्त आर्थिक दृष्टिकोण नही होता, परन्तु वैश्य धन कमाने के लिए चिकित्सा करता है।

ब्राह्मण का पांचवा कर्म— पौरोहित्य

देवों में अग्नि का एक आधि भौतिक अर्थ ब्राह्मण है। इसीलिए अग्नि को वेद में 'विप्र', 'द्विजन्मा' 'यज्ञस्य विद्वान्', 'पुरोहित' आदि कहा गया है। अग्नि नाम से ब्राह्मण के पौरोहित्य कर्म का वर्णन वेद मे पर्याप्त मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही कहा है— "अग्नि का मैं सत्कार करता हूं, जो यज्ञ का पुरोहित है, 'देव' अर्थात् ब्राह्मण है, 'ऋत्विज् है' 'होता' है, दक्षिणा मे रत्न ग्रहण करने वाला है"—

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋ० १.१.१

इसी अग्नि नाम से ब्राह्मण को कहा गया है— "हे ब्राह्मण, तू होता, पोता, नेष्टा, आनीत्, प्रशास्ता और ब्रह्म नामक ऋत्विजों का कर्म करता है, तू 'अध्वर' यज्ञ करने की इच्छा रखता है।

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः ।
तव प्रशास्त्र त्वमध्द वरीयसि ब्रह्म चरसि गृहपतिश्च नो दमे ॥ ऋ० २.१ २

यज्ञकुशल सुयोग्य ब्राह्मण को पाकर यजमान कह रहा है— जिसे हम मन से चाहते थे वह आ गया है, जो यज्ञ का विद्वान् है, यज्ञ के प्रत्येक अंग को जानने वाला है— **यमैच्छाम मनसा सोऽयमागाद् यज्ञस्य विद्वान् पुरुषश्चिकित्वान्** ऋ० १०.५३.१।

इसी अग्निशब्दवाच्य ब्राह्मण के सम्बन्ध में अन्यत्र कहा है, ब्राह्मण यज्ञ का विद्वान् है, वह हमारे यज्ञ को सम्पन्न करे— **अग्निर्विद्वान् यज्ञ नः कल्पयाति** (ऋ० १०.५२.४)। ब्राह्मण यज्ञ को सिद्ध करने वाला है— **विप्रो यज्ञस्य साधनः** (ऋ० ३.२७ ८)। इसी ब्राह्मण के संबन्ध में यजमान लोग कहते हैं– "हम हाथ जोड कर नमस्कारपूर्वक आपको पूर्ण आदर देते हैं। यज्ञ में निपुण 'विप्र' आप त्रुटिरहित विधियो एवं वेदमन्त्रों से मनोयोगपूर्वक हमारा यज्ञ कराइये—

वयं ते अद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य ।
यजिष्ठो मनसा यस्ति देवानस्रे धता मन्मना विप्रो अग्ने ।। ऋ० ३.१४.५

ऋग्वेद में कहा है कि आगरुक ऋत्विज लोग अनेक प्रकार से विधिविधान एवं मन्त्रपाठ करते हुए जो यज्ञ का संचालन करते हैं, उसमे यजमान की विशेष प्रज्ञा नही होती, अपितु जो अनूचान ब्राह्मण ऋत्विज् नियुक्त होता है, उसी की होती है—

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति ।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् का स्वित् तत्र यजमानस्य सवित् ।।ऋ ८.५८ १

ब्राह्मण का षष्ठ कर्म-दान लेना

दान लेना केवल ब्राह्मण का ही अधिकार है, किसी अन्य वर्ण का नही । अथर्ववेद मे ब्राह्मणों को बैल, गाय, चादी, सोना आदि देने का सुफल बताया गया है । ब्राह्मणो को दुधारु गाय का दान करने से दाता सब लोको को अर्थात् सब उच्च स्थितियो को पा लेता है । गाय मे सत्य, ज्ञान और तप अर्पित होता है अत गाय के दान से दाता को इनकी प्राप्ति हो जाती है—

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्वा सर्वांल्लोकान्त्समश्नुते ।
ऋत ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ।। अ० १०.१०.३३

कोई गृहपति कह रहा है कि मेरे पास ज्योति और अमृत रूप हिरण्य है खेत का पका हुआ अन्न है, यह मेरी कामधेनु है । यह धन मैं ब्राह्मणों को दान दे रहा हु । इससे पितृजनो के लिए स्वर्ग अर्थात् सुख का मार्ग सिद्ध होगा—

इद मे ज्योतिरमृत हिरण्य पक्व क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इद धन निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्था पितृषु य. स्वर्ग. ।। अ० ११ १.२८

द्वितीय वर्ण क्षत्रिय

क्षत्रियो के संबन्ध मे वेद में क्षत्र एव क्षत्रिय शब्दो के अतिरिक्त राजन्, राजन्य, इन्द्र, मरुत. आदि शब्दो का भी प्रयोग हुआ है । क्षत्र शब्द उणादिकार ने क्षद् धातु से

त्र प्रत्यय करके सिद्ध किया है (उ० ४/१६८)। उणादि की दयानन्दवृति के अनुसार 'क्षदति रक्षतीति क्षत्रम्'। कालिदास ने क्षत पूर्वक त्रैङ् पालने से क्षत्र की सिद्धि मानी है– क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढ. (रघुवंश २/५३)। 'क्षत्रिय' शब्द पाणिनि के मत में क्षत्र शब्द से अपत्य अर्थ मे घ प्रत्यय करके निष्पन्न होता है (पा० ४.१.१३८)। पाणिनि राजन्य, क्षत्रिय राजा की क्षत्रिय सन्तान को मानते है (पा० ४.१ १३७)। 'इन्द्र' का आधि भौतिक अर्थप्रसंगानुसार क्षत्रिय राजा या सेनाध्यक्ष होता है। 'मरुत' क्षत्रिय योद्धाओ के लिए आता है, जो मरने मारने को तैयार रहते हैं (मृङ् प्राणत्यागे)। क्षत्रियो को वेद मे कई वर्गो मे बांटा गया है— १. क्षत्रिय राजा २ सेनाध्यक्ष, ३ सैनिक योद्धा ४. क्षत्रिय राजकर्मचारी।

१. क्षत्रिय राजा

वैदिक विधान एव परम्परा के अनुसार राजा क्षत्रिय ही होता है— **इममिन्द्र वर्धय क्षत्रिय म इम विशामेकवृष कृणु त्वम्** (अ० ४.२२.१)। वह प्रजाओ मे से चुना जाता है– **त्वाँ विशो वृणतां राज्याय** (अ. ३ ४ २)। राज्य का सचालन त्रुटिपूर्ण होने पर वह पदच्युत किया जा सकता है। पुरोहित निर्वाचित राजा का अभिषेक करता हुआ कह रहा है—

आत्वा हार्षमन्तरेऽभि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलि ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ अ. १०.१७३ १

"मैं तुझे प्रजा के बीच से चुनकर लाया हू, तू राजा बनकर भी प्रजा के मध्य मे रह। स्थिर होकर बैठ, विचलित न हो। सब प्रजाए तुझे चाहती रहे। ऐसा अवसर न आये कि राष्ट्र तुझसे छीना जाये।"

आत्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशापतिरेकराट् त्व विराज ।
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु पसद्यो नमस्यो भवेह ॥ अ० ३.४.१

तुझे राष्ट्र प्राप्त हुआ है, तू अपने प्रताप के साथ उदित हो। प्रगति कर, प्रजाओं का पति एवं एकच्छत्र राजा के रूप में शोभित हो। हे राजन्, सब प्रदिशाए तुझे अपने बीच बुलायें। तू उनके समीप पहुंचने वाला होकर उनका नमस्करणीय बना रह।

राजा के कार्य

राजा के प्रमुखत. द्विविध कार्य है— १. राज्य की पुष्टि २. शत्रुओं को वश में करना— **यः सग्रामान्नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि ससृजति द्वयानि** (अ० ४.२४.७)। राज्य की पुष्टि मे शिक्षा के सुप्रबन्ध द्वारा ज्ञान विज्ञान की उन्नति करना, चिकित्सा की सुव्यवस्था करना, विभिन्न आविष्कारो द्वारा कृषि कल-कारखानों, यातायात आदि को उन्नत करना, प्रजा पर यथोचित कर लगाकर लोकोपयोगी कार्य करना आदि आते है, जिनका वेदो मे वर्णन मिलता है। यदि राष्ट्र के अन्दर तस्कर, डाकू, लुटेरे, रिश्वतखोर, आतकवादी आदि उत्पन्न हो गये है, तो उनका यथोचित दण्ड आदि द्वारा सुधार करना राजा का कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त यदि राष्ट्र के कोई बाह्य शत्रु उत्पन्न हो गये हैं तो उन्हे साम, दान, भेद द्वारा शान्ति की राह पर लाना और शान्ति के मार्ग पर नही आते, तो उनसे युद्ध करके उन्हे पराजित या नष्ट करना भी राजा के वेदोक्त कर्तव्यो में आता हैं। वेदो में अनेक मन्त्र ऐसे आते हैं, जिनमे शान्ति एवं सौहार्द की कामना की गयी है। परन्तु जिसने अशान्ति एवं आतक के पथ पर चलने का प्रण ही ठाना हुआ है, उसके लिए राजा को उद्बोधन देते हुए वेद का कथन है—

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामाभरा भोजनानि॥
सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽवबाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा खिदा भोजनानि॥ अ० ४ ३२ ६ ७

हे राजन्, तू उन्नत हो, आक्रान्ता और जो तेरे मुकाबले के शत्रु हैं, वे नीचे हो जाए। अद्वितीय वीर, सेनानी रुप सखा से युक्त और विजेता तू शत्रुता करने वालों का भोजन छीन ले। सिंह बन कर तू सब उपद्रवियो को हड़प ले, बाघ बन कर तू शत्रुओ को गिरा दे।

२. क्षत्रिय सेनापति

सेनापति में प्रधान सेनाध्यक्ष, स्थलसेनाध्यक्ष, जलसेनाध्यक्ष, वायुसेनाध्यक्ष और अलग-अलग दलों के छोटे सेनाध्यक्ष सब आ जाते है। वेद का सेनापति अपनी ओजस्विनी वाणी मे कह रहा है—

मेरा ज्ञान अतितीक्ष्ण है, पराक्रम और बल अतितीक्ष्ण है। मेरे उन सैनिको का क्षात्रबल भी अतितीक्ष्ण हो, जिनका विजयशील मै सेनानायक हू—

संशित म इदं ब्रह्म संशित वीर्यं बलम्।
सशित क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥अ० ३.१६.१

मै शत्रुओ के राष्ट्र को विच्छिन्न कर दूंगा, उनके ओज वीर्य और बल को विच्छिन्न कर दूंगा। इस आक्रमण रुप हवि द्वारा मे वैरियो की भुजाएं काट दूंगा—

समहमेषा राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ अ० ३.१६ २

एक अरव सैनिको के सेनापति अर्बुदि को उत्साहित करते हुए वेद कहता है— 'हे देवजन अर्बुदि, अपनी सेना के साथ तू उठ खड़ा हो, सन्नद्ध हो जा। रिपुओ की सेना को भग्न करता हुआ तू उसके सैनिको को पाशों से बाध ले—

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह।
भञ्जन्नमित्राणां सेना भोगेभिः परिवारय ॥ अ० ११.६ ५

यहां सेनापति को देवजन कहा गया है, क्योकि उसका उद्देश्य हिंसा करना नही है। वह शान्ति का इच्छुक है, युद्ध तो विवशता मे कर रहा है।

३. क्षत्रिय सैनिक या योद्धा

क्षत्रिय सैनिको को वेद मे वीराः, देवाः, नरः, मर्याः मरुत. कह कर पुकारा गया है। वे शत्रुओ को विशेष रुप से प्रकम्पित करने के कारण या विक्रम दिखाने के कारण वीर (वि–ईर गतौ कम्पने च, वीर विक्रान्तौ) रणक्रीडा करने के कारण देव (दिवु

क्रीडादौ), बहादुर होने के कारण 'नरः' और मरने-मारने के लिए तैयार रहने के कारण 'मर्तः' और 'मरुत' (मृङ प्राणत्यागे) कहलाते है। वेद मे सेनापति अपने वीर सैनिकों का परिचय देता हुआ कह रहा है –

तीक्ष्णीयासः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयासो येषामस्मि पुरोहित. ॥ अ० ३.१६–४

मैं जिनका अग्रनेता हूं वे मेरे वीर परशु से भी अधिक तीक्ष्ण हैं, अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण हैं, इन्द्र के वज्र से भी अधिक तीक्ष्ण हैं।

अपने वीर सैनिको को उत्साहित करता हुआ वह कहता है—

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना मित्राननु धावत ॥ अ० ११.१०.१

उठ खड़े हो, सन्नद्ध हो जाओ, हे वीरो, अपने राष्ट्रध्वजो के साथ। जो साप है, साप के समान डसने वाले हैं, अभद्रजन हैं, पराये हैं, अमित्र हैं, राक्षस है, उनके पीछे दौड पडो।

वेद मे वीर सैनिकों की युद्धोचित वेशभूषा का वर्णन भी बड़ा सजीव है–

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षः सु रुक्मा मरुतो रथेशुभ. ।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्रा. शीर्षसु वितता हिरण्ययी. ॥

हे वीरो, तुम्हारे कन्धो पर बन्दूके (ऋष्टिया) हैं, पैरो मे फौजी बूट है, छाती पर सुनहरी बैज हैं, युद्धरथ पर बैठे, तुम शोभित हो रहे हो हे अग्नितुल्य तेजस्वी सैनिको, तुम्हारे हाथो मे विद्युत्शस्त्र हैं, सिरो पर सुनहरे शिरस्त्राण हैं।

इनके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों पर रक्षार्थ नियुक्त राज कर्मचारी, पुलिस के सिपाही, पुलिस-विभाग के अध्यक्ष, पहरेदार आदि भी क्षत्रियो मे आते है, जिनका वर्णन वेदों मे मिलता हैं।

तृतीय वर्ण वैश्य

वेदो मे वैश्य के वाचक शब्द वैश्य के अतिरिक्त आद्युदात्त 'विश्य' और आद्युदात्त 'अर्य' प्रयुक्त हुए है। स्वरितान्त 'विश्य' शब्द 'विशि भव' आदि अर्थो मे और अन्तोदात्त 'अर्य' शब्द स्वामी के अर्थ मे आता है। क्वचित् प्रकरणानुसार प्रजावाची 'विश.' शब्द भी वैश्यो के लिए आया है। वैश्य का कार्य कृषि, पशुपालन वाणिज्य, एवं विभिन्न व्यवसाय करना है। वेदो मे किसान के लिए कृषि, कृषीवन् कृष्ट वधि और की नाश शब्द, 'पशुपालक के लिए पशुप पशुपाः पशुपति, पशुरक्षि, गोपति, गोपाल, अजपाल, अविपाल, हस्तिप, अश्वप शब्द एव व्यापारी के लिए वणिक् शब्द प्रयुक्त हुए है।

कृषि

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल मे भावयव्य की दानस्तुति के प्रसंग मे एक ऋचा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

सुबन्धवो ये विश्या इव व्राः
अनस्वन्तः श्रव ऐषन्त पज्राः ॥ ऋ० १२६—५

अर्थात् शकट वाले सुबन्धु जन ऐसे ही भावयव्य से अन्न के दान की इच्छा करते है, जैसे शकटो के स्वामी वैश्य लोग कृषि द्वारा अन्न उत्पन्न करना चाहते है। इससे वैश्यो के कृषि रूप कर्त्तव्य पर प्रकाश पड़ता है।

पशुपालन

पशुपालन के कई सूक्त वेदों मे आये हैं। पशुओ के सम्बन्ध मे कहा गया हैं—

इमं गोष्ठ पशव. सस्रवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन् ।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नियच्छ ॥ अ० २. २६.२

इस गोशाला मे पशु प्रवाह के साथ एक-एक करके आयें। गृहपति इन्हे पहचाना हुआ अन्दर लाये। अन्न की स्वामिनी गृहपत्नी इनके सम्मुख घास-च.रा

आदि डाले। हे पशुओं के प्रति अनुकूल प्रति रखने वाली गृहपत्नी, आये हुए इन पशुओं को तू बाध।

मुझ गोपाल के पास गौएं स्थिर रुप से रहती हैं।

वाणिज्य

वाणिज्य के सम्बन्ध मे अथर्ववेद काण्ड ३ का १५ वा सूक्त विशेष रुप से अवलोकनीय है। प्रजाजन कहते हैं– धनवान् वाणिक् को हम प्रेरित करते हैं। वह आवे, हमारा अग्रनेता बने। व्यापार मे प्रतिबन्धक शत्रु को तिरस्कृत करके वह हमारे लिए धनदाता बने–

इन्द्रमहं वणिजं प्रेरयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नराति परिपन्थिनं मृग स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥१॥

इसके उत्तर मे वणिक् कहता है–

द्यावापृथिवी के मध्य मे स्थित अन्तरिक्ष मे जो व्यापारियो के जाने–आने के बहुत से मार्ग हैं, वे दूध–घी से मेरी सेवा करे जिससे विदेश मे क्रय–विक्रय करके मैं बहुत धन लाऊं।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी स चरन्ति।
ते मा जुषन्ता पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥

व्यापार मे धन लगाकार धन की वृद्धि का इच्छुक मैं जिस मूलधन से क्रय-विक्रय करता हूं, वह मेरे पास बहुत है, कम नही। हे राजन् मूल पूंजी को भी गवा बैठने वाले अकुशल व्यापारियो को आप अपने आदेश के द्वारा व्यापार करने से रोकों–

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥५॥

उद्योग धन्धे

व्यापार के अतिरिक्त वैश्य द्वारा करणीय उद्योग–धन्धे या व्यवसाय वेदों में बहुत से वर्णित हुए हैं। यजुर्वेद १६ वें अध्याय में ही कुलाल (कुम्हार), कर्मार (लुहार), हिरण्यकार (सुनार), मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार, रज्जुसर्ज (रस्सी बंटने वाला) सुराकार (आसव बनाने वाला), दार्वाहार (जंगल से लकड़ियां लाने वाला), चर्मघ्न (चमड़े का काम करने वाला) आदि विभिन्न उद्योग-धन्धे करने वाले पुरुषों के तथा विदलकारी (बांस चीरने वाली या दाल-दलिया आदि दलने वाली), कण्टकीकारी (कंघी बनाने वाली), पेशस्कारी (वार्निश आदि करके वस्तुओं को रूप देने वाली), वासःपल्पूली [वस्त्र धोने वाली], रजयित्री [वस्त्र रंगने वाली], अञ्जनीकारी [अंजन बनाने वाली], कोशकारी [तलवार की म्यान या सन्दूक, थैले आदि बनाने वाली] इत्यादि स्त्रियों के नाम आये हैं, जिनसे विभिन्न उद्योग-धन्धों पर प्रकाश पड़ता है।

चतुर्थ वर्ण शूद्र

शूद्र शब्द वेदों में कुल १४ बार आया है। इनमें ५ पूर्वोक्त स्थल वे हैं, जिसमें चारों वर्णों के नाम दिये गये हैं। दो स्थानों पर स्त्रीलिंग 'शूद्रा' का प्रयोग है, और एक स्थल में 'शूद्रकृता' ऐसा समस्त पद है। एक मन्त्र में 'चाण्डाल' शब्द आया है (य० ३०-२१) जो शूद्र का ही एक भेद है। शूद्र के विषय में वेदों में अधिक नहीं कहा गया है। इतना ही विधान है कि सेवारूप तप के लिए शूद्र को नियुक्त करो–तपसे शूद्रम् (य० ३०.५)।

यह वैदिक वर्णव्यवस्था का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया गया है। मन्त्र आदि द्वारा निर्दिष्ट वर्णव्यवस्था का आधार वेद ही हैं। मनु ने ब्राह्मण के कार्य अध्ययन-अध्यापन यजन–याजन, दान देना और दान लेना वर्णित किये हैं (मनु १.८८)। भगवद्गीता में ब्राह्मण के कर्म शम, दम, तप शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान-विज्ञान और आस्तिकता बताये गये हैं (गीता १८.४२)। मनु ने क्षत्रिय के कर्म कहे है—

प्रजाओ की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयों में लिप्त न होना (मनु १.८६)। भगवद्गीता के अनुसार क्षत्रिय के कर्म हैं शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से मुंह न मोडना दान देना और राजा बनकर सबके साथ यथायोग्य बर्तना (गीता १८.४३)। मनु स्मृति मे वैश्य के कर्म हैं– पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना व्यापार करना, ब्याज पर ऋण देना और कृषि करना (मनु १.६०) गीता मे कृषि, गोरक्षा वाणिज्य वैश्य के कर्म बताये गये हैं (गीता १८.४४)। मनु के अनुसार प्रभु ने शूद्र का एक ही कर्म समादिष्ट किया है कि मन मे निन्दा आदि का भाव न रखते हुए तीनो वर्णो की सेवा करना (मनु १.६१)। गीता में भी परिचर्या ही शूद्र का कर्तव्य माना गाया है (गीता १८.४४)।

वैदिक वर्णव्यवस्था जन्ममूलक या गुणकर्ममूलक ?

उक्त वैदिक वर्णव्यवस्था जन्ममूलक न होकर गुणकर्ममूलक है यह अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त से स्पष्ट है। वेद की दृष्टि मे आचार्य जब बालक का उपनयन सस्कार करता है तब उसे गर्भ मे धारण करता है— **आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिण कृणुते गर्भमन्तः** (अ०११.५.३)। जब स्नातक बनाता है, तब बालक का दूसरा जन्म होता है। स्नातक बनाते समय आचार्य योग्यता के अनुसार उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य वर्ण प्रदान करता है। जिसमे पढ़ने की योग्यता नही होती वह शूद्र कहलाता है। पहला जन्म माता–पिता से होता, उसके वर्ण स्थायी नही रहते। प्रथम जन्म का ब्राह्मण भी द्वितीय जन्म मे क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बन सकता है। इसी प्रकार प्रथम जन्म का शूद्र भी द्वितीय जन्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद मे ही काण्ड १२, सूक्त ४ में ब्राह्मणो को गोदान करने का महत्त्व बताते हुए यह कहा गया है कि अविद्वान सौ ब्राह्मण भी गाय मागे तो गोपति उन्हे गाय न दे, विद्वान ब्राह्मण को ही दे—

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम् ।
अथैनं देवा अब्रुवन्नेवं विदुषो वशा ॥ मन्त्र २२

इससे भी विदित होता है कि भले ही कोई जन्म से ब्राह्मण हो, किन्तु विद्वान् न हो तो वह ब्राह्मण नहीं है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के वर्षकामेष्टि सूक्त (१० ६८) की निरुक्तकार यास्क की व्याख्या के अनुसार उस सूक्त के पात्र देवापि और शन्तनु दोनों क्षत्रिय राजपुत्र है। परन्तु देवापि यज्ञविद्या का पाण्डित्य प्राप्त करके शन्तनु के वृष्टियज्ञ में पुरोहित बनता है। इससे भी वर्णव्यवस्था की गुणकर्ममूलकता पुष्ट होती है।

वर्णव्यवस्था का वैज्ञानिक आधार

प्रत्येक मनुष्य के अन्दर मन-मस्तिष्क, शारीरिक बल-वीर्य, ग्रहणशक्ति आदि भिन्न-२ होते है। अत. स्वभावत. प्रत्येक मनुष्य न प्रत्येक विषय का पण्डित हो सकता है, न प्रत्येक कार्य कर सकता है। कुछ के अन्दर ज्ञान-विज्ञान मे पारगत होने की शक्ति और रुचि होती है। कुछ ऐसे होते है, जो शारीरिक बल का अपने अन्दर विकास करके दूसरो की रक्षा के निमित्त समर्पित हो सके। कुछ लोगो की शक्ति और रुचि कृषि, पशुपालन आदि व्यवसायो मे होती है। कुछ ऐसे भी होते है जिनमें पढने की योग्यता सर्वदा नही होती और वे सेवा के अतिरिक्त कुछ नही कर सकते। प्रत्येक देश की प्रजा मे ये चारो प्रकार के लोग होते हैं और वे इन कार्यों को करते है, भले ही वह देश इन्हे ब्राह्मण आदि नामो से न पुकारता हो। यह ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग सर्वदा स्वाभाविक है और मनुष्य की शक्ति एव योग्यता पर आधारित है। प्रत्येक देश अपने विद्वानों द्वारा ज्ञान-विज्ञान की उन्नति कराता है, प्रत्येक देश अपनी सैन्यशक्ति बढाता है, प्रत्येक देश कृषि पशु-पालन, एव विविध उद्योग-धन्धो का विकास करता है। एवं वस्तुत. वैदिक वर्ण-व्यवस्था प्रत्येक देश मे प्रचलित है। यह मनुष्यों की शक्ति, योग्यता और रुचि पर आधृत होने से सर्वथा वैज्ञानिक, स्वाभाविक एव अनिवार्य है।

वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था एक विश्लेषण

—डा० विभा गौड़

अध्यक्ष दर्शन विभाग हे०न०ब०ग०वि०वि० श्रीनगर गढवाल

प्रायः प्रत्येक समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था आवश्यक रुप से पायी जाती है। जहाँ तक स्तरीकरण के स्वरुप का प्रश्न है, यह प्रत्येक समाज में वहां की परम्पराओं सामूहिक मूल्यो, राजनीतिक नीतियो और आवश्यकताओ के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है। किसी-किसी समाज मे यह स्तरीकरण स्थायी रुप ले लेता है जिस में हजारों वर्षो तक कोई परिवर्तन कठिनता से हो पाता है। इस का ज्वलन्त उदाहरण भारत मे देखा जा सकता है। यूरोप मे अधिकतर समाजो मे स्तरीकरण मे तीव्र गतिशीलता पायी जाती है।

सर्व प्रथम, वर्तमान युग में स्तरीकरण के सब से प्रमुख दो आधारों जाति तथा वर्ण की प्रकृति को समझ लेना चाहिये। जाति की उत्पत्ति को जात. शब्द से माना जाता है जिस का अर्थ जन्म से लिया जाता है। जाति एक बिल्कुल भिन्न सामाजिक व्यवस्था का वह स्वरूप है जिस मे कुछ नियन्त्रणो के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। जाति व्यवस्था के ही कारण जन्म से व्यक्ति को एक विशेष सामाजिक स्थिति प्रदान की जाती है। इस सामाजिक स्थिति मे आजीवन कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस के अतिरिक्त विभिन्न जातियों को एक दूसरे से अलग करने के लिये धार्मिक अनुष्ठान, सम्पर्क, रीतिरिवाज, विवाह एवं खान-पान आदि के लिये कुछ नियन्त्रण होते हैं जिसके फलस्वरूप विभिन्न जातिया एक दूसरे के प्रति कुछ सामाजिक दूरी का अनुभव करती है। कुछ जातियों का समाज मे उच्च स्थान होता है एवं कुछ का निम्न। व्यक्तिगत योग्यता एव कुशलता का जाति व्यवस्था में कुछ महत्त्व नहीं होता है। यही कारण है कि जाति से सम्बन्धित लगभग समस्त विचार 'जन्म' और 'सामाजिक दूरी' को आधार बनाते हुए प्रस्तुत किये गये हैं।

वर्ण शब्द संस्कृत भाषा के 'वृ' धातु से बना है। 'वृ' का अर्थ है वरण करना। इस प्रकार वर्ण का अर्थ है जिसे मानव अपने कर्म एव स्वभाव से वरण या चुनाव

करता है। ऋग्वेद में वर्ण का प्रयोग रंग के लिये हुआ है। गौर वर्ण आर्यो एवं कृष्ण वर्ण दासो के लिये प्रयुक्त होता था। बाद मे वर्ण शब्द का प्रयोग ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र आदि चार सामाजिक वर्गों के लिए किया जाने लगा। आज के युग में वर्ण का सामान्य और प्रचलित अर्थ 'जाति' है।

जाति और वर्ण मे अन्तर है। शाब्दिक अर्थ मे भी वर्ण का अर्थ वरण करना और जाति का अर्थ जन्म (जन् धातु से उत्पत्ति) लेना हैं। दूसरे शब्दो में जाति जन्म से एव वर्ण कर्म से निर्धारित होता है क्योकि एक व्यक्ति जाति से ब्राह्मण और-कर्म से क्षत्रिय हो सकता है जैसे परशुराम ! कोई अन्य व्यक्ति जाति से क्षत्रिय और कर्म से ब्राह्मण हो सकता है जैसे राजा जनक (सख्या की दृष्टि से भी वर्ण केवल चार हैं परन्तु जाति की सख्या वर्तमान काल मे चार हजार के आस-पास।

समाज में शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था का लक्ष्य बहुत उच्च था। समाज के गठन के पश्चात् सामाजिक कार्यो को भली-भांति पूर्ण करने के लिये यह आवश्यक था कि कार्यों का विभाजन व्यक्ति की स्वाभाविक प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुसार हो। प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न प्रकार के कार्यो को स्वय ही सम्पादित नही कर सकता है। यह वर्ण व्यवस्था मनोवैज्ञानिक आधार पर हुई समाज की दृष्टि मे समस्त वर्ण समान थे।

वैदिक काल में जाति जैसे किसी शब्द का उल्लेख नही मिलता। हिन्दू समाज में चातुवर्ण्य व्यवस्था का सम्बन्ध परम्परागत धारा से है। याज्ञवलक्य के मत में ब्रह्म ने पहले ववताओं के चार वर्ण बनाये। बृहदारण्यक उपनिषद में यह माना गया कि पहले केवल ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई वर्ण नही था। परन्तु ब्राह्मण स्वयं अपनी समृद्धि नही कर सकता था। इसीलिए क्षत्रिय की उत्पत्ति हुई। यह वर्ण इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र यम इत्यादि देवों से मिलकर बना। गुण कर्म के अनुसार ब्राह्मण का कार्य वेदाध्ययन माना गया क्योकि उसमे सतो गुण की प्रधानता है। सतों गुण ज्ञान का प्रतीक माना जाता है, वेद का अध्ययन वास्तविक सत्ता के स्वरुप का ज्ञान प्रदान करता है। अत. ईश्वर के स्वरुप का ज्ञान प्राप्त करके चिन्तन करना ही ब्राह्मण का धर्म है।

क्षत्रिय का कार्य देश की रक्षा करना, प्रजा पर शासन करना है। मनुष्य की त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति में रजोगुण की प्रधानता होने पर व्यक्ति अधिक क्रियाशील एवं शक्तिशाली बनता है और क्षत्रिय कहलाता है। तीसरा वर्ण वसु रुद्र, आदित्य, विश्वदेव आदि के रूप मे वैश्य की उत्पत्ति हुई। वैश्य मे भी रजोगुण की प्रधानता मिलती है जिसके कारण आसक्ति वश वह धर्म अर्थ को धारण करता है। वैश्य वर्ण मे तमोगुण का निवास होने के कारण वह अधिक शक्ति के कार्यो को न कर के व्यापार मे लग जाते है वैश्य के पश्चात् भी जब वर्ण व्यवस्था पूर्ण न लगी तो पूषन देव के रूप मे शूद्र की उत्पत्ति हुई। पूषन देव पोषण करता है अर्थात् सेवक ! शूद्रो मे तमोगुण की प्रधानता को माना गया है। अत: सत् रज् और तम् गुणो की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न होती है। वर्ण व्यवस्था वास्तविक रूप मे समाज का कर्मिक एवं चारित्रिक मूल्याकन है।

प्रत्येक वर्ण के लोग आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार के लाभ के लिये अपने व्यवसाय का त्याग नही करते थे। प्रत्येक व्यवसाय का अपना एक अलग संघ होता था। इस संघ का कर्त्तव्य उस व्यवसाय के समस्त लोगो का भरण पोषण करना होता था। इस प्रकार दीर्घकाल तक यह व्यवस्था निर्बाध गति से चलती रही क्योकि लोगो मे परस्पर सहयोग की भावना कायम थी। समाज मे स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के लिये कोई स्थान नही था। समाज का वैश्य वर्ण अन्य वर्णो को आर्थिक मदद दिया करता था शूद्र वर्ण, जिस का कर्त्तव्य लोगो की सेवा करना था, को वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण समय समय पर सहायता देते रहते थे।

वर्ण व्यवस्था से समाज का आर्थिक ढांचा सुदृढ होता था। बेरोजगारी जैसी कोई समस्या नही थी क्योकि वंशानुगत उद्यम को अपनाया जाता था जिसके कारण समाज में दक्ष एवं कुशल व्यक्तियो का आधिक्य होता था। व्यवसाय को सामाजिक कर्त्तव्य समझ कर किया जाता था। वर्ग वैमनस्य के लिये समाज मे कोई स्थान नही था क्योकि व्यवसाय को धन संग्रह का साधन नही समझा जाता था।

ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्र वर्णो में समाज के वर्गीकरण का मुख्य उद्देश्य जन्म तथा वंशानुगत उद्यम के आधार पर अलग-अलग वर्णो में पार्थक्य की स्थिति उत्पन्न

करना नहीं था अपितु सहकारी जीवन की ऐसी पद्धति का तर्कसंगत विकास करना है जिस से प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी अभिरुचियो, ज्ञान तथा क्षमताओ के अनुरूप व्यक्ति के योगदान तथा गुणो पर आधारित श्रम विभाजन के माध्यम से समाज को सुदृढ तथा सम्पन्न बनाया जा सके एवं समाज की सुरक्षा का आवश्यक प्रबन्ध किया जा सके ! अतः सिद्ध है कि व्यक्ति की अन्तर्निहित प्रकृति ही उस के कर्त्तव्य को निर्धारित किया करती है।

भारत के पतन के साथ-साथ कालान्तर मे वर्ण व्यवस्था का पतन भी प्रारम्भ हुआ। ऊच-नीच के भाव के कारण ब्राह्मण को उच्च कोटि का और शूद्र को निम्न कोटि का माना जाने लगा। लोगों ने वर्ण व्यवस्था के अर्थ को बदल डाला वर्ण व्यवस्था ने कठोर जाति प्रथा का रूप ले लिया। यह प्रथा वर्तमान काल मे एक अभिशाप बन गयी है। उत्तर वैदिक काल के आरम्भ मे विभिन्न वर्णो मे जब पृथकता की भावना बढने लगी तब जैन एवं बौद्ध धर्मो का विकास हुआ जिस मे जन्म को महत्त्व न देकर कर्म को महत्त्व दिया जाता था। इस से ब्राह्मणो की स्थिति मे ह्रास हुआ। परन्तु शीघ्र ही इन धर्मो के पतन होने पर वर्ण व्यवस्था की उदार नीति पुन. जाति व्यवस्था की संकीर्णता में बदलने लगी। वर्ण व्यवस्था के स्थान पर जाति व्यवस्था का रूप धर्मशास्त्र युग में एक दम स्पष्ट हो गया। धर्म का महत्व अत्यधिक बढ़ जाने से जाति के नियमों का तनिक सा भी उल्लघन हो जाने पर व्यक्ति का जाति से बहिष्कार कर दिया जाता था। फल स्वरूप अनेक उपजातियों का निर्माण हुआ। ग्यारहवी शताब्दी से मध्यकालीन युग का प्रारम्भ होता है। यह जाति प्रथा के इतिहास में अत्यधिक कलुषित समय रहा। भारत मे मुसलमानों के प्रभाव के बढने के कारण रोज नये-नये प्रतिबन्धो के द्वारा विभिन्न जातियो को एक दूसरे से अलग कर दिया गया। सामाजिक समस्यायें अपनी चरम सीमा मे पहुच गयी। लेकिन उन्नीसवी शताब्दी में ही स्वामी दयानन्द तथा राजा राममोहन राय महात्मा गान्धी इत्यादि प्रगतिवादी व्यक्तियो ने इस जाति प्रथा के विरोध में आवाज उठायी जिससे जाति व्यवस्था की कठोरता मे कुछ कमी होने लगी।

प्राचीन काल में व्यक्ति की आवश्यकतायें बहुत कम हुआ करती थी। ऐसे समाज के लिये वर्णव्यवस्था अति उत्तम एवं सफल थी। लेकिन आज के मानव की आवश्यकतायें अप्रत्याशित रूप से बढ़ रही हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मानव को अन्य उद्यमों की तलाश करनी होती है। पहले व्यक्ति का जीवन अत्यधिक सादा होता था। धन संग्रह की समस्या उसके सामने नहीं थी! व्यक्ति का जीवन विषमताओं से मुक्त था! परन्तु आज का युग भौतिकवाद का युग है। आज समाज का प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम सुख सुविधा की ओर भाग रहा है। सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था इतनी अधिक जटिल हो गयी है कि व्यक्ति ऐसे व्यवसाय की ओर दौड़ रहा है जिस से वह कम से कम मेहनत एवं समय में अधिक से अधिक धन प्राप्त कर सके। यही कारण है कि वर्ण व्यवस्था वर्तमान समाज में लुप्त प्रायः है।

जैसा की मैं पहले भी कह चुकी हूं कि वर्तमान युग में 'वर्ण' का सामान्य और प्रचलित अर्थ 'जाति' है! इसी को दृष्टि में रखते हुये मैं कहना चाहती हू कि वर्तमान काल में अस्पृश्यता उन्मूलन, स्वतन्त्र सामाजिक सम्पर्क और व्यावसायिक स्वतन्त्रता के वातावरण में जाति व्यवस्था के बन्धन स्थायी नहीं रह सकते हैं। परन्तु जाति के आधार पर अपने राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों को पूरा करने की मनोवृत्ति में यदि कमी नही आयी तो जातिगत नियन्त्रणों से पूर्ण छुटकारा पाने की सम्भावना बिल्कुल सोची भी नही जा सकती है। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के विचार में "दुर्भाग्यवश वही जाति प्रथा जिस का विकास सामाजिक संगठन की रक्षा के एक साधन के रूप मे किया गया था, आज उसी समाज की उन्नति में बाधक बन रही है।"

जातिप्रथा का जो रूप हमारे सामने है उस से प्रतीत होता है जाति प्रथा का भविष्य सुरक्षित नही है। इस मे लेशमात्र भी सन्देह नही है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब जाति प्रथा का बिल्कुल ही अन्त हो जाएगा। कुछ विद्वानों का यह मत हो सकता है कि सामाजिक व्यवस्थाओं को एकाएक समाप्त न कर के यदि उनमें निहित कमियो को दूर कर दिया जाए तो वे पहले से कही अधिक उपयोगी और सार्थक सिद्ध ही हो सकती है जैसा कि डॉ० मजूमदार ने कहा है कि एक जाति का

दूसरी जाति के द्वारा शोषण और इसी प्रकार की सहयोगी प्रथाओं को नष्ट कर देना चाहिए न कि समुचित व्यवस्था को; क्यो कि विषपूर्ण अगुली को ही काटना उचित होगा न कि सम्पूर्ण हाथ को।" मजूमदार का यह तर्क उचित अवश्य है परन्तु जाति प्रथा ने समाज मे शोषण और घृणा को बढावा देकर समाज को इतना विषाक्त कर दिया है कि इसमें कोई सुधार की आशा करना असम्भव एवं व्यर्थ सा प्रतीत होता है।

निष्कर्ष रुप मे मैं दो-तीन मुख्य बाते आप लोगों के सम्मुख रखती हू :—

जहा तक वैदिक वर्ण व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार पर प्रश्न है, यह रुपेण वैज्ञानिक है क्योकि किसी भी व्यवस्थित ज्ञान (systematic knowledle) को ही विज्ञान कहा जाता है। वर्ण चू कि उपाधियां है अतः इन उपाधियो का अर्जन क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ज्ञान द्वारा ही होता है। कतिपय विद्वान मेरे इस कथन पर सन्देह कर सकते हैं लेकिन यह क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ज्ञान गणितीय जैसे २ + २ = ४ या ज्यामितीय या भौतिक शास्त्रो के सम्भाव्य (Probable) या निश्चित ज्ञान से भिन्न प्रकार का हो सकता है।

प्रस्तुत लेख में वैदिक वर्ण व्यवस्था तथा आधुनिक जाति व्यवस्था का उल्लेख किया है। परन्तु मेरी निजी सम्मति मे वर्ण तथा जाति मे स्पष्ट भेद है। वर्ण जैसे ब्राह्मण एक उपादि है जब कि जाति सार्वभौम एवं नित्य है। जैसे 'मनुष्यत्व' वृक्षत्व स्पष्ट है कि मेरे विचार मे वर्ण जन्मना: नही हो सकते जब कि जाति जन्मना. ही होती है जैसे मनुष्यत्व'। पुनः उपाधि अर्थात् वर्ण आश्रित रुप है जब कि जाति और जन्म साथ-साथ ही अस्तित्व मे आते है। उपाधिया परिवर्तन शील होती है जैसे एक डाक्टर कलाकार हो सकता है आदि-आदि शायद यही कारण रहा है कि वेद, कर्म एव स्वभाव के अनुसार ही वर्णोत्पत्ति बताते हैं। आजकल वर्ण को ही चू कि जाति समझ लिया गया हैं, इसलिये वर्ण व्यवस्था या तो विकृति का शिकार हो चुकी है या नष्टप्रायः।

समस्त प्रकार के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक वर्ण व्यवस्था आज भी विद्यमान है। हा, विचारणीय यह है कि राष्ट्रीय एकता के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जैसी उपाधि नामो मे यदि परिवर्तन की अपेक्षा हो तो देश के विद्वानो को इस पर अवश्य विचार कर लेना चाहिये। क्योकि हमारा मूल उद्देश्य तो व्यक्ति देश तथा समस्त समाज का कल्याण है। हमे अपने कर्त्तव्य मात्र का ही पालन करना चाहिये क्योकि हमारे कर्त्तव्य ही तो हमारे अधिकारो की जननी है।

वर्ण व्यवस्थाः ब्रह्माण्ड व्यवस्था का वैज्ञानिक वर्गीकरण सिद्धान्त

वर्ण का सामान्य अर्थ यद्यपि मात्र रग या रुप ही प्रारम्भ मे रहा है लेकिन व्यवस्था एक समूची सामाजिक संस्था का बोध कराती है जिसमे अर्थ और राजनीति, विधि और व्यवस्था कर्तव्य और अधिकार सहित मनुष्यो के समस्त सामाजिक सम्बन्ध समाविष्ट होते हैं। इसलिए प्रारम्भिक अवस्था मे वर्ण भले ही बाह्य प्रकृति का सूचक रहा हो लेकिन व्यवस्था से जुडकर वह एक विराट् अर्थवत्ता एवं प्रभुसता का संवाहक बन जाता है। वैदिक वर्ण व्यवस्था से अभिप्राय न केवल यह है कि यह व्यवस्था वेद विहित है और न यह ही कि इस व्यवस्था के पुरस्कर्ता वे आर्य है जिनके पवित्र ग्रन्थ वेद थे। वस्तुत. वेद के साक्ष त् कृत धर्मो ऋषियो ने ब्रह्माण्ड के अन्य तत्वो की भाति इस सामाजिक व्यवस्था का भी साक्षात्कार किया था। ब्रह्माण्ड की प्रकृति के आधार पर समाज की प्रकृति की पहचान मनोवैज्ञानिको और दर्शन-शास्त्रियो के लिए सदैव ही चिन्तन का विषय रही है। साक्षात्कार का अभिप्राय यदि पदार्थ के धर्मो या सार तक पहुचना है तो व्यवस्था के साक्षात्कार के लिए इसका अर्थ होगा समाज की समष्टि के स्वभाव-धर्मो का सूक्ष्म अंकिलन।

वर्गीकरण मानव की विचार यात्रा की आधार भूमि है। विचार, प्रत्यक्षण, क्रिया और भाज्ज का प्राथमिक प्रतिफलन वर्गीकरण ही है। कोई भी बौद्धिक व्यापार वर्गीकृत रुप मे ही साकार हो सकता है। तार्किक विश्लेषण वर्ग विशिष्ट बोध के रूप मे ही फलोत्मुख है वर्गीकरण की योग्यता वृद्धि का विशिष्ट गुण है। उस योग्यता को अर्जित किए बिना हमारी जीवन यात्रा चल ही नही सकती। भौतिक जगत, सामाजिक–व्यवस्था, बौद्धिक चिन्तन सभी वर्गीकृत रूप मे ही अपने अस्तित्व का बोध कराते हैं। स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा की दिशाये वर्गीकरण का विधियो मे ही प्रशस्त हो सकती है। इसी को निरुक्तकार ने .'बिल्म ग्रहणाय" कहा है वैशेषिक दर्शन वर्गीकरण की इसी विशेषता के कारण अपने नाम को सार्थक करता है। कणाद ने इसी वर्गीकरण की वैज्ञानिकता को परख कर सूक्ष्मतम परमाणुओ मे भी "विशेष" का साक्षात्कार किया। वर्णव्यवस्था इसी वर्गीकरण की विशेषता की

तार्किक परिणति है। सृष्टि मे निहित नियमो अर्थात् व्यवस्था के घटकों के सादृश्य और समनुरूपता के आधार पर एक आदर्श एवं विकासोन्मुख सामाजिक संस्था के सगठन के लिए यह आवश्यक था कि उसके नागरिकों की क्षमताओ और योग्यताओं के अनुरूप दायित्वों की व्यवस्था की जाय। क्षमताओ की सम्भावनाओ के आकलन को जो सहायता आज वैज्ञानिक यन्त्र देते है उसके लिए उस आरम्भिक काल मे यज्ञ-संस्थाओं की स्थापना की गई थी। वेदविद्या अधियज्ञ, अध्यात्म और अधिदेवता मे तादात्म्य का साक्षात्कार करती है। इसीलिए ब्रह्माण्ड विद्या देवविद्या और समाज विद्या या समाज शास्त्र परस्पर अनुस्भूत है ब्राह्मण का ब्रह्माण्ड मे पृथ्वी के देव वर्ग मे अग्नि के साथ अपृथक् तादात्म्य है। प्रसिद्ध समाज शास्त्री मारशल का कहना है कि—

Society was not simply a model which classificatory thought followed; it was its own divisons which served as divis ons for the system of classification The first logical categories were social categories; the first classes of things were classes of men, in to which there things were integrated. It was because men were grouped, and thought of them selves in the form of groups, that in their ideas they grouped other things, and in the beginning the two modes of grouping were merged to the point of being indirtinct.

यह वर्गीकरण आज की समाज शास्त्रीय सम्भावनाओ की तरह न किसी कुलीन तंत्र पर आधारित था न मानसिक और शारीरिक श्रम पर नहीं कि इस विभाजन के मूल मे आर्थिक ससाधनो की पृष्ठ भूमि थी। न वर्ग विशेष के लिए किसी विशेषाधिकार की व्याख्या थी। वस्तुत वर्ण का साक्षात्कार सभ्रहाराओ ने मानवीय चर्चाओ मे ही नहीं अपितु ब्रह्माण्ड की समस्त चर-अचर ईकाइयों में किया था। विश्व की ब्रह्माण्ड मे जो वृद्ध भी अस्तित्वमान् विद्यमान है वह वर्ण-हीन नहीं है, उसका कोई न कोई वर्ण अवश्य है। वस्तुत. वह वर्ण के ही कारण विद्यमान

और गतिमान् है। प्राकृतिक विश्व ही नहीं अतिप्राकृतिक विश्वातीत तत्वों में भी वर्णों की व्यवस्था है, भौतिक सृष्टि की भांति देवसृष्टि के भी अपने-अपने वर्ण है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वर्णों के रूप मे ही वर्गीकृत है। जैसे कि प्रसिद्ध तर्कशास्त्री विरगिन् स्टाइन ने कहा है—

All components of the universe can be understood as bearing one or another of a limited number of 'famly sesemblances;

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय व्यवस्था को वर्णों के आधार पर विशेषीकृत रूप में प्रमेय बनाने वाला यह विश्व का प्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण सिद्धान्त है जिसने सर्वप्रथम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक इकाई मानकर कुछ चारित्रिक विशेषताओ के आधार पर त्रिविध वर्गीकरण का सिद्धान्त आविष्कृत किया। इसी सिद्धान्त के आधार पर त्रिवर्ग, त्रिदोष, त्रैगुण्य, त्रिकाल, त्रिकाय, त्रिधातु के आयुर्वेद, दर्शन, ज्योतिष शास्त्र, रसायन शास्त्र जैसे पश्चाद्वर्ती शास्त्रीय सिद्धान्तों का विकास हुआ।

सृष्टि की प्रत्येक वस्तु जो यज्ञ की प्राथमिक आवश्यकता है जो शान्त, स्थिर, धीर गम्भीर मृदुल और कोमल है, ब्राह्मण है। जिसमें शारीरिक बल, सैन्य सघटन, नेतृत्व कौशल है और जो ऊर्जा का स्रोत है वह क्षत्रिय है। जिसमे दया, विनियमता, उत्पादका शक्ति और करण-कौशल हैं वहं वैश्य है। इन्ही वर्णों की चारित्रिक विशेषताओं के अनुसंधान से आरम्भ होता है वैदिक-धर्म-दर्शन। सामाजिक सम्बन्धो और दायित्वों के परिणाम स्वरूप कर्मवाद का जन्म होता है और फिर होती है कार्य-कारण शृंखला की शुरूवात, जो दर्शन का प्रस्थान बिन्दु है।

चारों वर्णों के साकार होने से पूर्व हम इस वर्गीकरण की प्रक्रिया को वैदिक साहित्य मे विभिन्न रूपों और प्रकारों मे विवेचित होते देखते हैं। ब्राह्मण का आविर्भाव जहां पृथ्वी के अवतरण और यज्ञाग्नि के उद्दीपन के साथ होता है वहां क्षत्रिय का आगमन यज्ञ रक्षा के लिए क्षात्र तेज के रूप मे रथ और वाण के साथ होता दिखाई देता है। लेकिन वैश्य की उत्पत्ति के साथ हमे त्रिविध वर्गीकरण का एक व्यवस्थित सिद्धान्त प्राप्त होता है—

यहा हम वर्गीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालना चाहेंगे —

१—	सामाजिक दर्जा	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य
२—	मौलिक गुण	ब्रह्मन्	क्षात्र	विश्
३—	अन्त शक्ति	महत्	ओजस्वी	यशस
४—	सत्तामूलक कड़ाई	आत्मन्	मनुष्य	पशु
५—	देवता	अग्नि	इन्द्र	सूर्य/विश्वदेव
६—	विश्वब्रह्माण्ड	भू	भुवः	स्व
७—	प्राकृतिकतत्व	अग्नि	वायु	सूर्य
८—	कालभाव	प्रातः	मध्याह्न	उत्तराह्न
९—	वेद	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद
१०—	छन्द	गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती
११—	ऋत्विग्	होता	अवयर्यु	उद्गाता

	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
पशु	अजा	अश्व	गाय	भेड-अवि
छन्द	गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती	अनुष्टुप्
Chant गान	रथान्तर	बृहत्	वामदेव्य	वैराज

पेटर और फेरलुजी जैसे समाज-दर्शन के गम्भीर अध्येताओ ने इस व्यवस्था को polythetic पोलीथेटिक Tasconomical principel टैक्सोनोमिकल प्रिन्सीपल याने बहु आयामी और बहु प्रायोजनिक वैज्ञानिक वर्गीकरण के सिद्धान्तो के आधार पर परखा है। वर्गीकरण का यह सिद्धान्त यद्यपि सार्वभौम है तथापि इसके निर्धारण की विधिया कठोर और निरपवाद नही है। उदाहरण की दृष्टि से यदि गाय यज्ञ के उपयोग की दृष्टि से ब्राह्मण वर्ग की सदस्या है तो आहार सामग्री उत्पादन के रुप मे उसका वर्ण वैश्य भी है। वर्णो के विभाजन मे सामाजिक उपयोग और प्रयोग की महत्वपूर्ण भूमिका है। विश्व ब्रह्माण्ड की प्रत्येक प्राकृतिक और अतिप्राकृतिक वस्तु की समाज के लिए योगदान की भूमिका के विशेषीकृत वर्गीकरण विज्ञान का नाम है— वर्ण। यह ब्रह्माण्ड व्यवस्था का प्राथमिक वर्गीकरण सिद्धान्त है जिसका समाज सस्था के अध्ययन अनुसधाताओ के लिए आज एक महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है।

वैदिक वर्ण व्यवस्था"

–डा० दीनेश अग्रवाल
संस्कृत प्राध्यापिका, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हरिद्वार

यह कथन अतिप्रसिद्ध है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" वह एकाकी नही रह सकता। उसे अन्य साथियों सहयोगियो की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि वह ग्राम, कस्बा या नगर बसा कर रहता है। परस्पर सहयोग विचार विमर्श से रहने मे उसे सुख की अनुभूति होती है। इसी को समाज कहा जाता है।

"समम जन्ति जना; यस्मिन् स समाज:"।

भगवती श्रुति ने सृष्टि के प्रारम्भ में मानव मात्र के कल्याण के लिए जो पवित्र ज्ञान गंगा प्रवाहित की, उसमे आध्यात्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक सभी प्रकार के उत्तमोत्तम उपदेश दिये गये हैं। मानव समाज को सुव्यवस्थित चलाने के लिए कहा गया है कि हे मनुष्यों तुम्हारी सम्पूर्ण चेष्टाएं एक समान होनी चाहिए। तुम्हारी गतिविधि एवं परस्पर व्यवहार मे समानता हो, तुम्हारी वाणी में समानता हो। तुम सब एक स्वर में बोलने वाले बनो, तुम्हारी विचारधाराओ मे भी समानता हो। मत्रणा के लिए बनाई जाने वाली समितियां समानता का भाव लेकर ही बने। तुम्हारे मन व चित्त आदि मे समानता, हो सभी एक समान विचार धारा को लेकर उस पर विचार विमर्श करने वाले बनो। मैं सबको समान ज्ञान देता हू। अत: तुम समानता के आधार पर भोग्य पदार्थो का उपभोग करते हुए सदाचारी बने रहो। तुम सबके सकल्प तथा हृदयो मे ऐसी समानता हो कि कभी परस्पर विरोध की भावना ही पैदा न हो। तुम्हारे मनो में ऐसा प्रेम हो, जिससे राष्ट्र मे शांति रहे और सदैव सुख सम्पदा की वृद्धि होती रहे—

संगच्छध्व संवदध्व सवोमनासि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥

समानो मन्त्र: समिति समानी समान मन: सह चित्तमेषाम्।
समान मन्त्रमभि मन्त्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमि॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
ऋग्वेद, १०/१६१/२-४

वेद के इन मन्त्रों के आधार पर दुनिया के सभी मानव समान हैं। उनमें कोई उच्च या निम्न नहीं है। अब प्रश्न उठता है कि वेद मे वर्णभेद या वर्ण व्यवस्था का निर्देश क्यों किया गया है ?

वेद ने मानवता की दृष्टि से यद्यपि सबको समदृष्टि से देखा है, परन्तु कार्यक्षमता की दृष्टि से एक व्यक्ति मे दूसरे की अपेक्षा जो विशेषता या भिन्नता होती है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी–२ कार्यक्षमता और बुद्धि के आधार पर भिन्न रूप में दिखाई देता है। जैसे कोई अध्यापक है तो कोई इंजीनियर कोई डाक्टर है तो कोई कुशल प्रशासक। कोई सेनापति है तो कोई कुशल व्यापारी कोई कृषक है तो कोई श्रमिक। इस बात को वेद ने स्वय स्वीकार किया है।—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनो जवेष्वसमा बभूवुः।

अर्थात् समान नेत्रों कर्णों वाले सखा, मानव मन की गतियों मे भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। सबकी बुद्धि, प्रतिभा, शारीरिक बल भिन्न-२ प्रकार की होती है यह भिन्नता ही वैदिक वर्णव्यवस्था का मूलाधार है। समाज को ठीक प्रकार से चलाने के लिए भिन्न-२ प्रकार की योग्यता वाले मानवो की आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती है। इस आवश्यकता ने ही वर्णव्यवस्था कोजन्म दिया। ऋग्वेद मे स्पष्ट रूप से इस वर्णव्यवस्था का निर्देश किया गया है। एक मंत्र मे कहा गया है— हे परमात्मन आप हमारा ब्राह्मणों में प्रेम कीजिए, क्षत्रियो मे प्रेम कीजिए, वैश्यो मे पमा प्रेम कोजिए आप प्रेम से मेरे अन्दर प्रेम उत्पन्न कीजिए—

रुचं नोधेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुच विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ यजु० १८–४८

किसी भी राष्ट्र को सुचारू रूप से चलाने के लिए सामान्य रूप से चार प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती हैं।—

१- **बुद्धि जीवी वर्ग—** यह वर्ग वह है जो अपनी विशिष्ट बुद्धि के द्वारा राष्ट्र का सही मार्ग दर्शन या कार्य कर्ता है जैसे- शिक्षक, डाक्टर, इंजीनियर आदि।

२- **रक्षक वर्ग—** सेना तथा पुलिस आदि मे कार्य करने वाला यह वर्ग विशेष है जो देश की बाहर और भीतर से रक्षा करता है।

३- **व्यापारी वर्ग—** यह वर्ग राष्ट्र की उपभोग्य आवश्यक्ताओं को अपनी व्यापारिक क्रियाओ द्वारा पूर्ण करने मे सहयोग देता है।

श्रमिक वर्ग— जो अपने परिश्रम के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने कधो पर वहन करता है वही यह वर्ग है।

इन चार प्रकार के नगरिको को चार वर्गो मे बांटा गया है। यह वर्गीकरण जन्म के आधार पर न होकर गुण कर्म स्वभाव के आधार पर माना गया है योगेश्वर कृष्ण ने गीता मे कहा है— "चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुण कर्म विभागशः।"
अर्थात् चारों वर्णो को मैंने गुण कर्म स्वभाव के आधार पर बनाया है। मनु महाराज ने ठीक ही कहा है— "जन्मना जायते शूद्रः सस्कारा‌द् द्विज उच्यते" अर्थात् प्रत्येक मानव जन्म से शूद्र होता है। तत्पश्चात् शिक्षा ग्रहण करने पर जिसमे जिसमे जिस प्रकार की कार्यक्षमता होती है वह तदनुसार ही वर्ण या वर्ग मे समाविष्ट हो जाता है।

वर्ण विभाग का आधार— वैदिक वर्णव्यवस्था मे मुखवत् ज्ञानी, तपस्वी और त्यागी को ब्राह्मण कहा गया। जिस प्रकार मुख तपस्वी है, कठोर से कठोर सर्दी के दिनो मे भी, जबकि हम सारे शरीर को वस्त्रो से ढक लेते है हमारा मुख नग्न ही रहता है। उसी प्रकार ब्राह्मण को भी मुख के समान तपस्वी होना चाहिए। आंख, नाक, कान रसना और त्वचा ये पाच ज्ञानेन्द्रिया मुख मे एकत्र रहती हैं और ज्ञान प्राप्त कराती रहती है। इसी प्रकार ब्राह्मण को ज्ञानवान् होना चाहिए। और जैसे हम मुख से औरो को उपदेश देते है। ब्राह्मण को सदैव सत्य ज्ञान का उपदेष्टा बनना चाहिए।

क्षत्रिय समाज की भुजा है भुजा में बल होता है, जब शरीर पर कही से किसी प्रकार का प्रहार होता है तो भुजाएँ आगे बढ कर उस प्रहार से रक्षा करती है और यह प्रयत्न करती है कि शत्रु के प्रहार से स्वयं लहू लुहान हो जाय किंतु अन्य अंगो को आहत न होके दें। सच्चा क्षत्रिय वही है जो अपना सर्वस्व लुटाकर भी समाज और राष्ट्र की रक्षा करता है।

ऊरु और उदर के समान जो सबका आधार है उसे वैश्य माना गया है। जैसे खाया हुआ अन्न पेट मे पहुचता है पेट उस अन्न को पचा कर रस बना देता है और फिर उस रस को रक्त बना कर सम्पूर्ण शरीर को देता है उसी प्रकार जो वर्ण समाज के सभी अंगों को भोजन आदि प्रदान करे वह वैश्य है। इसी प्रकार जंघाओ का काम चलना फिरना है, जो जंघाओ की तरह चले फिरेगा देश-देशान्तर मे जाकर व्यापार व्यवसाय करेगा, वह आदर्श वैश्य होगा।

शूद्र को वैश्य के समान माना गया है। जैसे पैर सारे शरीर को अपने ऊपर उठाये रखता है और सम्पूर्ण शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। इसी प्रकार शूद्र और वर्णो की सेवा मे संलग्न रहता है। और राष्ट्र को सुदृढ बनाता है।

इस वर्ण विभाजन का आधार घृणा नही था अपितु यह विभाजन अपनी शक्तियो द्वारा समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सकने के भाव पर अवलम्बित था, जैसे शरीर के मुख, भुजा आदि अंग एक दूसरे से घृणा नही करते, वे दूसरे के सुख दुख: को अपना सुख दुख समझते है उसी प्रकार का भाव इन सभी वर्णो में होना चाहिये। उन्हे परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिये। शूद्र के कष्ट और विपत्ति ब्राह्मण को अपना कष्ट और विपत्ति समझने चाहिए। और ब्राह्मण के कष्ट और विपत्ति शूद्र को अपना कष्ट और विपत्ति समझने चाहिए। जब सबका जीवन एक दूसरे के सहयोग अवलम्बित है तब न कोई ऊचाई न नीचा। जो जितना अधिक गुणवान है और जितनी दूसरो की सेवा करता है वह उतना ही ऊचा है। वर्ण–व्यवस्था के इस रूप को न समझने के कारण ही भारत देश मे जन्मगत जाति के आधार पर ऊच नीच और घृणा का भाव उत्पन्न हुआ। जिसने भयानक विष का रूप धारण करके राष्ट्र शरीर को दुर्बल कर दिया।

चारों वेदो मे अनेक ऐसे मन्त्र है जिनमे वर्णव्यवस्था के उदात्त रूप को प्रतिपादित किया है। उदाहरण रूप मे निम्न मन्त्र देखने योग्य है—

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।

विसदृशा जीविताभि प्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा ॥ ऋग्०- १-११३-६ ॥

अर्थात् सब जगत अधकार से निगला हुआ पडा था। प्रात: काल ऊषा भाई और उसने जगत को अंधकार से बाहर कर दिया ? इसलिए कि विभिन्न स्वभाव वाले लोगों को प्रकाश मिल सके, जिससे वे अपने-२ कार्यो को भली भाति कर सके। कोई क्षात्र कर्म कर सके, कोई यज्ञ के कर्म को कर सके, कोई धन सम्पादन के कार्य को कर सके। और कोई चल फिर कर साधारण सेवा आदि के कार्य कर सके।

इस वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था मे किसी भी वर्ग को स्वयं वरण करने की व्यवस्था थी। जो व्यक्ति जिस वर्ण के गुण कर्मो का चुनाव अपने जीवन के लक्ष्य के रुप मे कर लेगा, उसका वही वर्ण हो जायेगा। वेदो के बाद ब्राह्मण ग्रथो और उपनिषद तथा मनुस्मृति आदि मे वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर न मान कर गुण कर्म स्वभाव के आधार पर ही स्वीकार की गई थी। हाँ ! मध्य काल मे कतिपय स्वार्थी लोगो ने इसे जन्म का आधार देकर मानव और मानव के बीच मे गहरी खाई खोद दी जिससे घृणा और ऊच-नीच की दलदल मे यह समाज फसता चला गया। इस देश मे सत्य भाषण करने वाली घर-घर मे सेवा कर जीविका चलाने वाली 'जाबाल' नामक शूद्र नारी के पुत्र को 'सत्यकाम जाबाली' के नाम से परम सम्मान दिया गया था। उस देश के लोग फिर से वैदिक वर्णव्यवस्था को स्वीकार करे तो यह देश पुन: परम वैभव को प्राप्त कर सकता है।

वर्ण व्यवस्था और जातिवाद-एक विश्लेषण

प्रो० एम०आर० भट्ट

दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रत्येक विचार एवं आचार के बाद एवं सिद्धान्त अपने युग की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं के अनुरूप उत्पन्न होते हैं तथा परिवर्तित परिस्थियों मे उनके स्वरूप मे परिवर्तन आमूल-चल परिवर्त हो, परन्तु यह ही सम्भव है जब उनमे ऐसे तत्त्व हो जिनका सनातन मूल्य हो। अतः यदि किसी वाद या सिद्धान्त की सामयिक उपयोगिता समाप्त हो जाती है तो उसका त्याग कर दिया जाना चाहिये अन्यथा वह अनावश्यक रूप से भार बनकर समाज मे विकृति एवं असामञ्जस्यता को उत्पन्न करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी वाद या सिद्धान्त सर्वांगीण रूप से चिर स्थायी नही होता। भले ही उनमे निहित साध्य चिर स्थायी हों उन साध्यों की प्राप्ति हेतु प्रयुक्त साधन एवं इति कर्त्तव्यताओं मे देश काल एवं परिस्थिति के अनुसार भेद होता रहता है। अतः एक जागरूक समाज से यह अपेक्षा जा की सकती है कि वह इसका विचार करे कि उसके द्वारा परम्परा से प्राप्त विचार या आचार का सिद्धान्त किस रूप में और किस सीमा तक समसामयिक है तथा अपने विवेक द्वारा ग्राह्य अंशों को सुरक्षित रखकर त्याज्य अंगों का बहिष्कार करें। यह मानकर नही चला जा सकता है कि परम्परा मे सब कुछ मूल्यवान है या मूल्य हीन है। बिना विवेक युक्त परीक्षा के ऐसी कोई भी मान्यता रूढ़िवादिता एवं हठधर्मिता ही होगी। इसी पृष्ठ भूमि मे वर्तमान भारतीय समाज में चर्चित जातिवाद एवं उसके पूर्वरूप वर्णव्यवस्था पर विचार करना आवश्यक है।

वर्ण, जाति एवं वर्ग में भेद— प्रस्तुत चर्चा मे हमे सर्वप्रथम भारतीय समाज मे सदियों पूर्व व्यवहार मे लाये गये वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त को भली भांति समझना होगा ताकि उसका उसके परवर्ती रूप जातिवाद तथा वर्तमान मे व्याप्त वर्णव्यवस्था से भेद स्पष्ट किया जा सके।

वर्ण-व्यवस्था प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना मे श्रम के विभाजन के लिए प्रयुक्त विधि है। जो मानव स्वभाव के गहन अध्ययन एवं सूक्ष्म निरीक्षण के उपरान्त स्थापित एक सुनिश्चित वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत होती है। जीव-विज्ञान

एवं मनोविज्ञान द्वारा संपुष्ट यह आकट्य तथ्य है कि सभी व्यक्तियों की मानसिक एवं शारीरिक संरचनायें एक जैसी नही होती है। इसके अलावा मनुष्य की अनेक विध आवश्यकतायें होती है जिन्हे एक व्यक्ति अकेला ही अपने आप पूर्ति करने मे समर्थ नही है। अतः स्वभाव एव रूचि वैचित्र्य तथा क्षमता-वैविध्य के कारण कार्य-कौशल मे विविधता स्वाभाविक होने से समाज में पुरुषार्थ सिद्धि हेतु श्रम का विभाजन अपरिहार्य है। प्राच्य मनीषियों ने समाज मे कार्य या व्यवसाय प्राणाली का नियमन करने हेतु ही वर्णव्यवस्था तथा इसके चातुवर्ण्य प्रारुप को स्थापित किया था। इस व्यवस्था का लक्ष्य मानव को उसके गुण एवं प्रकृति के आधार उसके व्यवसाय का वरण या चयन करवाना था। वेद मे शरीर के विभिन्न अगो की तुलना से प्रतीकात्मक या रूपकात्मक ढग से यही वात कही गई है। गीता मे उल्लेखित गुण और कर्म के भेद से इसकी स्थापना इसी तथ्य को उद्घाटित करती है।

वर्णव्यवस्था गुण और कर्म पर आधारित थी न कि जन्म या अन्य कोई पैतृक आधार पर। अनुलोभ और प्रतिलोम की व्यवस्थायें तथा वशिष्ठ और वाल्मीकि के उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि के लिये पर्याप्त है। परन्तु शीघ्र ही वर्णव्यवस्था जन्म पर आधारित जातिवाद मे परिवर्तित हो गई। वैसे यह रूपान्तरण अस्वाभाविक नही था क्योकि वंश परम्परा से व्यवसाय-कौशल अधिक सुलभ एवं सुगम होता है। परन्तु मानवीय स्वभाव की विकृति के फल स्वरुप यह जातिवाद एक जड, जटिल एव कुत्सित मनो भावना और सामाजिक कुप्रथा मे बदल गया। इसके आधार पर समाज में भ्रामक वर्गभेद स्थापित कर दिये गये और एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग की शोषण एवं उत्पीड़न किया जाने लगा।

वेद मे शरीर के अगो से तुलना करते हुए चातुवर्ण्य को उच्च या नीच की दृष्टि से प्रस्तुत नही किया गया है। वहा सही परिप्रेक्ष्य कार्य-वैविध्य ही है। यह हमारे समझ की विकृति है कि ब्रह्माण वर्ण को सर्वोच्च और शूद्र वर्ण को निकृष्ट समझा जाने लगा। संभवतः प्रारम्भ मे ऐसा नही था क्योकि जिसे बाद मे निकृष्ट समझा गया उसे मेहत्तर कहा जाता था और आज भी समाज के उस अंक को जो कि महत्तर का ही विकृत रूप है, कहा जाताहै। तथा विवाहादि सस्कारो मे उसका महत्पूर्ण स्थान माना जाता है।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में 'आर्य' और 'दास' की न तो कोई विभेदक संज्ञाये थी और न इस प्रकार के संबोधनो के लिये कोई स्थान था। वस्तुत: किसी एक वर्ग को 'आर्य' और दूसरे वर्ग को 'दास' कहना वर्णव्यवस्था के विपरीत है।

वर्ण-व्यवस्था चातुर्वर्ण्य और जातिवाद में भेद—

वर्गभेद पर आधारित जातिवाद वर्णभेद पर आधारित चातुर्ण्य या इसी तरह की अन्य संभावित समाज व्यवस्था से पूर्णत: भिन्न है। इन दोनों के गुण-दोषो को एक दूसरे पर अध्यस्त नहीं किया जा सकता है। एक की स्वीकृतियां अस्वीकृति को दूसरे की स्वीकृति या अस्वीकृति नही माना जा सकता है।

यह संभव है कि तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए वर्णव्यवस्था का चातुर्वर्ण्य रूप सर्वाधिक उपयुक्त था और आज की परिवर्तित परिस्थितियो मे उसकी उपोगिता समाप्त हो गई हो परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि वर्णव्यवस्था के आधार मे निहित श्रम-विभाजन तथा वर्ण (गुण-कर्म) के आधार पर श्रम-विभाजन के सिद्धान्त ही झुठला गये हो। ध्यान देने की बात यह है कि चातुवर्ण्य वर्णव्यवस्था का पर्याप्त नही है, उसका एक प्रकार है। वर्णव्यवस्था का मौलिक ढाचा एक चीज है और उसका चातुवर्ण्य का प्रारूप दूसरी चीज है। इसके प्रारूप बदल सकते है परन्तु इससे उसके ढाचे पर प्रभाव नही पडता है। वर्णव्यवस्था का चातुवर्ण्य के अलावा अन्य कोई प्रारूप हो सकता है। अत; बिना वर्ण के सिद्धान्त को छोडे चातुवर्ण्य की व्यवस्था को छोडा जा सकता है और और किसी अन्य प्रकार की वर्णव्यवस्था को अपनाया जा सकता है। आज भी हम श्रमिक, किसान, व्यापारी, पर नौकरी करने वाले आदि अनेक वर्गो को पाते है जिन्हे वर्ण के आधार गठित कियाजा सकता है। व्यवसाय के चयन मे अव्यवस्था न केवल कर्म के कौशल मे बाधक हैं वरन् मानव स्वभाव के प्रतिकूल भी है। समाज मे 'वोकेशनल गाइडन्स' की आज भी वैसी ही आवश्यकता

है जैसी पहिले थी और आज के समाज शास्त्रियो को इस बारे मे विचार करना चाहिए कि ऐसा कौन सा वर्णव्यवस्था का प्रारूप हो सकता है जो आज की परिस्थितियो एव मागो के अनुरूप हो।

जातिवाद एव हिन्दू धर्म—

जानिवाद को केवल हिन्दू धर्म के साथ जोडना भी भ्रामक है। जातिवाद केवल हिन्दूओ मे ही नही दूसरे कई समाजो मे भी है। जातिवाद का ही एक रूप रग भेद, भाई भतीजावाद या अपने ही क्षेत्र या समुदाय के लोगो को बढावा देना है। जातिवाद के आधार पर ऊच-नीच का भेद भारत के सभी सम्प्रदायो मे है चाहे वे मुसलमान हो या ईसाई। धर्म-परिवर्तन के भुलावे से इसका समाधान हो सका है और न उनकी असमानता दूर हो सकी है। क्रिश्चियन दलित लिबरेशन मूवमेन्ट आदि अनेको सस्थाये इसके ज्वलन्त साक्ष्य है। धर्मान्तरण के बाद भी इनकी जातिया नही बदली है। जातिवाद के नाम पर केवल हिन्दू धर्म की ओर इशारा करना राजनीतिक चाल है।

जैसा कि उपर लिखा गया है, 'आर्य' एव 'दास' का द्वैधीकरण हिन्दू धर्म पर आरोपित सज्ञायें है जिनका प्रयोग आज हेय उद्देश्यो के लिये किया जा रहा है। हमारा लोक तन्त्र वोटों की राजनीति के झझावात मे फसकर नारो का लोकतन्त्र हो गया है। नारों की उपयोगिता जरूर होती है पर इसके लिये सही समय, परिस्थिति एवं सदर्भ आवश्यक है। जब तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।' अथवा सुभाषचन्द ने 'तुम मुझे खून दो मैं तुम्हे आजादी दिलवाउगा।' के नारे उद्‌घोषित किये तो इनकी सार्थकता स्पष्ट थी परन्तु जब आज 'आर्य पुत्र होश मे आओ' या 'दास पुत्र होश मे आओ' के नारे सडको के आस पास लिख पाये जाते है तो इनकी सार्थकता विचारणीय है। आज की परिस्थितियो मे 'आर्य पुत्र' और 'दास पुत्र' के सबोधनों की क्या सार्थकता है ? आर्य पुत्र और दास पुत्र के सम्बोधन कभी भारत ही नही विश्व के अन्य देशो में भी प्रयुक्त होते रहे है पर आज न तो

कोई वर्ग विशेष आर्य है और न कोई वर्ग विशेष दास । हा आर्यत्व और दासत्व की संकुचित भावनायें कुछ स्थानों पर रूप रंग, जाति, वंश आदि के आधारो पर अभी भी है। मानव की गरिमा मे सभी को सहभागी बनाने हेतु इन क्षुद्र एव सकीर्ण भावनाओ को मिटाना आवश्यक है। इस समस्या का समाधान भेद दृष्टि या वर्ग स घर्ष नही हो सकता है। इससे अशिक्षित एव भावुक जन को भुलावे मे डाला जा सकता है और कुछ स्वार्थी तत्त्वो के लक्ष्यो की पूर्ति हो सकती है पर प्रभावित जन समुदाय का कल्याण नही हो सकता।

शिक्षा द्वारा जातिवाद का उन्मूलन

अन्त मे दो बाते स्पस्ट कर देना आवश्यक है। जातिवाद व्यावहारिक जगत की व्यवस्था है। इसे किसी पारमार्थिक सत्ता या व्यवस्था से जोडना भ्रामक हैं। उन्नसवीं सदि के अद्वैत वेदात के विद्वान श्री नारायण गुरु ने अपने ग्रन्थ 'जाति-मीमासा' मे इसका विशद विवेचन किया है। जातिवाद वर्णव्यवस्था की विकृति होते हुए भी उसका अनिवार्य परिणाम नही है। जातिवाद हेय है अत त्याज्य है। वतमान मे हमारा लक्ष्य एवं प्रयास जातिवाद का उन्मूलन होना चाहिए न कि वर्णव्यवस्था की आलोचना। जातिवाद का एक भयकर दुष्परिणाम अस्पृश्यता थी जिसका सौभाग्य से अन्त समीप है। परन्तु जातिवाद कुछ अशो मे समाप्त हो रहा है तो कुछ अशो मे राजीतिक कारणो से पुन पनप रहा है। यह सुनिश्चित है कि जब तक जातिवाद का उन्मूलन नहीं होगा, सामाजिक सामञ्जस्य सभाव नही है। यह किसी एक वर्ग विशेष मे दासत्व या हीनता की भावना उत्पन्न कर उनमे दूसरे वर्गो के प्रति विद्वेष एक कटुता पैदा कर सभव नही है। यह तब ही संभव है जब हम सभी अपनी मनोवृति मे आमूल परिवर्तन लावे। मध्यकाल मे प्रबुद्ध सन्तो ने इस दिशा मे उपदेश दिये थे पर उनका प्रभाव सीमित और अल्प स्थायी रहा। आज पुन: वैसे सन्तो एवं उपदेशो की आवश्यकता है। यह परिवर्तन तथा कथित उच्च एवं नीच या अगड़े एवं पिछडे दोनों वर्गो मे होना है। जिसे निम्न वर्ग कहा जाता है उनमे हीनता और असुरक्षा की भावना को मिटाना हो। इसी तरह किस एक वर्ग को नीच या पिछड़ा मानने की जो मनोवृति है उसे भी समाप्त करना चाहिये। किसी भी वर्ग के लिये ऐसा कहना

या कहलाना अपमान-सूचक माना जाना चाहिये, गौरव की बात नही होनी चाहिये। कुछ आर्थिक लाभ को लेकर मडल कमीशन की आड़ में अपने को पिछड़ा घोषित करवाने की होड़ स्वर्ण मृग की तरह लुभावनी ही है। मानव की गरिमा मे सभी को सहभागी होना चाहिये। प्रत्येक मानव अमृत पुत्र है। प्रतिभा किसी वर्ग या जाति की बपौती नही है। सभी मे किसी न किसी रूप में प्रतिभा अव्यक्त रूप से विद्यमान हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि इस अव्यक्त प्रतिभा के प्रस्फुटीकरण के लिये समुचित अवसर एवं साधन उपलब्ध होने चाहिए। हमारा प्रयास यह होना चाहिये कि जिन वर्गों या व्यक्तियो को ये अवसर एव साधन प्राप्त नहीं है उन्हे सही शिक्षा द्वारा ऐसा करवाया जाये। शिक्षा का अभाव ही सब प्रकार के पिछड़ेपन की जड़ है चाहे वह सामाजिक हो या आर्थिक। हमे यह नही भुलाना चाहिये कि समाज का एक वर्ग यदि पिछड़ा रहता है तो उसका दुष्प्रभाव सारे समाज पर पडता है और यह परस्पर विद्वेष एव कटुता को जन्म देता है। अत. हमे अपना ध्यान शिक्षा तन्त्र पर केन्द्रित करना होगा। इसके अलावा मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नही है।

वर्ण व्यवस्था का भौतिक स्वरूप तपश्चर्या

रमेश कुमार लौ० (संस्कृत विभाग)
सनातन धर्म कालेज मुजफ्फर नगर

वैदिक वर्णव्यवस्था का वैज्ञानिक आधार तप और आध्यात्मिक उन्नति है। महाभारत में कहा भी है— "तप स्वधर्म वर्तित्वम्" (वन ३१३—८८) वैदिक ग्रन्थो मे यज्ञकर्म और तप: को सृष्टि रचना का साधन बताया गया है, ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त (१०—९०) मे ऐसा उल्लेख आया है कि विराज् पुरुष को साधन बना कर प्रजापति के प्रमाण रूपी देवो ने विविध प्रकार की सृष्टि रची। इसी यज्ञ साधन भूत पुरुष के विभिन्न अंगो से ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति हुई। प्रजाओ की उत्पत्ति के निमित्त प्रजापति द्वारा तप करने के उल्लेख उपनिषदो मे मिलते है—

"प्रजाकामो वै प्रजापति: । स तपोऽतप्यत ।" (प्रश्न १- ३)

"सोऽव्यामयत बहु स्या प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इद सर्वमसृजत यदिदं किञ्च ।। (तै. II ६)

अत: मानवी सृष्टि में वर्णव्यवस्था का तपोनिष्ट होना स्वाभाविक ही है।

महाभारत और मनुस्मृति आदि ग्रन्थो मे वर्णो के प्रथक् कर्मो का जो निर्देश किया गया है उनके कुछ आजीविका परक कर्म है। तो कुछ स्वयावज कर्म है (मनु, १-८८-९१)। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये अध्ययन, यज्ञ और दान सामान्य कर्म है तो शूद्र के लिए सभी वर्णो के अनुकूल होकर सेवा करना ही कर्म बताया गया है। यज्ञ, दान और अध्ययन भी तप ही है और सेवा को कठिन तप मानकर भर्तृहरि ने कहा है— 'सेवाधर्म: परम गहनो योगिनामप्यगम्य.' (नीतिशतकम्) धर्मशास्त्रो मे वर्णो के योगाधिकार पदक कर्मो का निर्देष न होने से वर्णो को अपने कर्मो द्वारा तप और आध्यत्मिक उन्नति के लिए प्रवृत रहने का संकेत मिलता है। श्रीमद् भगवत मे कहा ही है–"ब्राह्मणस्य हि देहोऽय क्षुद्रकामा च नेष्यते।' (११-१७-४२) वर्णो की उत्कृष्टता का तारतम्य भी तप. प्रधानता पर आधारित है। भगवद्गीता मे (१८,४२-४७) ब्राह्मण के लिये, शमो दमस्तप. इत्यादि नौ कर्म स्वभावज बताये गये हैं, क्षत्रिय के लिये शौर्य तेजो धृतिदाक्ष्यम् इत्यादि सात कर्म, वैश्य के लिये 'कृषि गोरक्ष्य

वाणिज्यम् ये तीन कर्म और शूद्र के लिये 'परिचर्यात्मक' यह जीविका और साधना परक ही स्वभावज कर्म बताया गया है। ब्राह्मण द्वारा स्वभावज कर्म न करने से उसके पतित होने के बहुत अधिक अवसर हो जाते है इसलिए उससे साधना और वैराग्य प्रवृत्ति की अधिक अपेक्षा की जाती है। धर्मशास्त्रो मे श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार करने वाले ब्राह्मण के लिये पूर्वरात्रि मे ब्रह्मचर्य पूर्वक सयम रखना और श्राद्ध भोजन के बाद गायत्री तप करके शुद्धि का विधान किया जाता है। सभी वर्णो का अपने स्वभावज कर्म करके अध्यात्मिक उन्नति पर समान समान अधिकार है उसमे कोई भेद भाव नही है। भागवद् गीता मे प्रति पादित है —

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: ससिद्धि लभते नर.।" और स्वकर्मणा तमम्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव।' (१८,४५-४६)

स्वधर्म 'विगुण' होने पर भी 'श्रेयान्' है और 'सहज कर्म' सदोष होने पर भी त्याज्य नही है।

छान्दोग्य उप. मे ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं कि ब्राह्मण का सम्मान उसके अध्ययन, आत्विज्य, रमणीया चरण और ब्रह्म विद्या के गुणो के कारण होता है। आरुणि ने श्वेकेतु को कहा है कि उनके वश मे कोई ब्रह्म बन्धु नहीं हुआ अत: उसे गुरुकुल मे वास कर ब्रह्म विद्या प्राप्त करनी चाहिये।

क्षत्रिय ब्रह्म वेता भी अपने पास आये ब्रह्म विद्या के जिज्ञासु ब्राह्मणो को पूज्य मानते थे। अवाहण जैवलि और अश्वपति कैकेय ने ब्राह्मण जिज्ञासुओ को सम्मान पूर्वक शिक्षा दी थी। (छन्दो १,८,२ और ५,३,७) प्रवाहण जैवलि ने गौतम को शिक्षा देने के बाद बहुत साधन देने की इच्छा की परन्तु गौतम ने मानुष वित्त को ठुकरा दिया। तपोबल से प्राप्त ब्रह्म तेज के कारण ही निरीह रैक्व को एक छकडे के नीचे विश्राम करते हुये राजा जानश्रुति ने पहिचान लिया और उनसे सवर्ग विद्या प्राप्त की।

महाभारत में समाहित अनेक ग्रन्थ रत्नो मे एक पराशर गीता भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें चारो वर्णो के विविध कर्म और तपोबल से उत्कर्ष की प्राप्ति का विशद वर्णन है। (शान्ति, मोक्ष, धर्म, पर्व २९०-२९८) जनक ने पराशर से प्रश्न किया कि जब सन्तान के रूप मे पिता ही जन्म लेता है तो ब्रह्मा से उत्पन्न प्रजायें ब्राह्मण

के अतिरिक्त अन्य वर्णो वाली कैसी बनी ? इसका कारण पराशर ने तप का अपकर्ष बताया है —

(तपसस्त्वपकर्षेण जाति ग्रहणतां गता; २६६-३)

चारो वर्णो मे कही कही सकर हो जाने से अन्य जातियो की उत्पत्ति हुई है। जिनमे-अतिरथ, अम्बष्ठ, निषाद, सूत, मागध, चाण्डाल गिनाये गये है।

इस प्रसग मे पराशर गीता के वर्णो की आजीवका के विवरण का उल्लेख करना भी रुचिकर होगा। ब्राह्मण को दान से क्षत्रिय को युद्ध मे विजय से वैश्य को न्याय की कमाई से और शूद्र को सेवा करने से प्राप्त थोड़ा भी अर्थ लाभ प्रशसनीय होता है और धर्म के लिए उसका उपयोग हो तो पुष्कल फल मिलता है। शूद्र की आजीवका का यदि और कोई साधन न हो तो वह व्यापार, पशु पालन अथवा किसी कारीगिरी के काम से निर्वाह कर सकता है। (२६४,—१—४) तपस्या करने मे सभी वर्णो का समान अधिकार है क्योकि इससे स्वर्ग का मार्ग मिलता है। "तप: सर्वगत तात हीनस्यापि विधीयते" जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्ग मार्ग प्रवर्तकम्" (२६४—१५) साधारण धर्मो के पालन मे शूद्र सहित सभी का अधिकार है—"आनृशस्यमहिसा चाप्रमाद. सविभागिता। श्राद्धकर्मातिथेय च सत्यमक्रोध एव च।।

स्वेषु दारेषु सन्तोष: शौच नित्यानसूयता।
आत्मज्ञान तितिक्षा च धर्मा साधारणा. नृप।। (२६६, २३—२४)

पराशर शूद्र को जगत् के पालनकर्त्ता विष्णु का रुप मानते है।

"वैदेह क शूद्रमुदाहरन्ति द्विजा महाराज श्रुतोपपन्ना:।
अह हि पश्यामि नरेन्द्र देव विश्वस्य विष्णु जगत प्रधानम् (२६६-२८)

महाभारत के यक्ष युधिष्टर सवाद प्रसग मे भी वर्ण के उत्कर्ष के लिए सदाचार को ही महत्व दिया गया है वृत यत्नेन सरक्ष्य ब्राह्मणेन विशेषत: अक्षीणवृतो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हत ।।

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्त: सशूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्र परोदान्त. स: ब्राह्मणइतिस्मृत:। वन ३१३—(१०९—१११)

पात० महाभाष्य मे उद्धृत एक पद्य भी ब्राह्मणय कारको मे तप को ही महत्व देता है।

"तप: श्रुतच योनिश्चेत्ये तद् ब्राह्मणयकारकम्।
तप श्रुताभ्या यो हीनो पातिब्राह्मण एव स:।" (८.२.६)

अत वर्ण कर्म के तपोमूलक आधार को ध्यान में रख कर ही हमें इस वैदिकी व्यवस्था के महत्व को समझना चाहिये।

वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था : एक विश्लेषण

डा० एस० एन० थपलियाल

वर्णाश्रम व्यवस्था मनुष्य के सामाजिक एवं व्यक्तिगत आचार विचार से संबधित है विशेषतः हिन्दू जाति के नैतिक संबन्धो की आधार शिला है भारतीय नीति शास्त्र के स्वरुप को स्पष्ट करते हुये प्रो० एस० के० मैत्र ने लिखा है कि हिन्दुओं का नीति शास्त्र आध्यात्मिक जीवन के एक तीन प्रकार की व्यवस्था पर आधारित है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक नैतिकता, व्यक्तिगत नैतिकता के क्रमिक स्तरो को पार करते हुए अनन्त जीवन की प्राप्ति की जाती है। इस प्रकार हिन्दू नीतिशास्त्र सामाजिक नीतिशास्त्र पहले है, तत्पश्चात् मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिगत नीति शास्त्र है तथा अन्त मे जिसका अवसान ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति में होता है जहा जाकर आध्यात्मिक जीवन की परिसमाप्ति हो जाति है।"

प्रो० मैत्र के उक्त कथन मे वर्णाश्रम धर्म की और संकेत है। सामाजिक नैतिकता के अन्तर्गत वर्णधर्म आता है जबकि मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिगत नैतिकता के अन्तगत आश्रम धर्म आता है और दोनो प्रकार के धर्मो की परिसमाप्ति अनन्त जीवन या मोक्ष मे हो जाती है। वर्णाश्रम धर्म वाध्यता मूलक धर्म हैं जिसके पालन के लिये समाज एव उसमे रहने वाले व्यक्ति वाध्य है। इसके अतिरिक्त कतिपय धर्म भी व्यक्ति के लिये पालनीय है जिन्हे साधारण धर्म अथवा सामान्य धर्म कहा जाता है। ये धर्म उस प्रकार के धर्म है जिनका पालन करना व्यक्ति के लिये अपेक्षित है किन्तु जिनके पालन के लिये व्यक्ति वाध्य नही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय जीवन मे मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था एक अनिवार्य व्यवस्था है।

वेदो मे सम्पूर्ण मानव समाज को एक विराट पुरुष का रुप दिया गया है। समाज को एक विराट् पुरुष का रुप दिया गया है। समाज के विराट स्वरुप की परम पुरुष के रुप मे उद्भावना की गई है। पर ब्रह्म परमात्मा अपरिमेय एव अलक्षित है। इसका उपलक्षण बताते हुए पुरुष सूक्त मे कहा गया है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

वह परम पुरुष सहस्र सिरोंवाला, सहस्र नेत्रो वाला, सहस्र पैरों वाला है। वह सब ओर से भूमि को परिव्याप्त करके अनन्त मे स्थित है। इस ऋचा मे सहस्र शब्द का प्रयोग लक्षणा मे किया गया है जिसका वास्तविक अर्थ अनन्त अपरिमित है।[2] अगली ऋचा में परम पुरुष को इसी प्रकार की लक्षणा मे कालातीत बताते हुए कहा गया है कि वह परम पुरुष भूत, वर्तमान और भविष्यत् के प्राणिपदार्थो मे विद्यमान है और उनसे परे भी अधिष्ठित है।[3] पुन तीसरी ऋचा मे परम पुरुष को दिगातीत या विश्वातीत कहा गया है और उपलक्षणा द्वारा कहा गया है कि उस परमात्मा के एक पाद से विश्व की उत्पत्ति हुई है और शेष तीन पाद (चतुर्थांश) दिव्य अमृत लोक मे व्याप्त है। यदि इसे अभिधा मे कहा जाये तो कहना होगा कि उस परम पुरुष का अश मात्र इस विश्व के रुप मे विस्तीर्ण है और शेष भाग दिव्य लोको को व्याप्त करके स्थित है।

सूक्त की पांचवी ऋचा में ब्रह्म की जगत् रूप मे अभिव्यक्ति का सिद्धान्त वर्णित है। जगत् मे व्याप्त ब्रह्म के एक पाद (अश मात्र) से स्थावर जगम जीव-जगत् की सृष्टि हुई। इस विश्व सृष्टि को विराट पुरुष का नाम दिया गया है। सारे विश्व के प्राणि-पदार्थ इसी पुरुषाधिष्ठित विराट रुप के अङ्गभूत है।

परम पुरुष से विश्व की इस प्रकार उत्पत्ति के सिद्धान्त को तद्वद रुप में पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा ने भी उदभावित किया है। उसका द्रव्य और पर्याय का सिद्धान्त इस प्रकार है—

ईश्वर द्रव्य रुप है उनके गुण और पर्याय सब और छिटके है। ईश्वर में अनन्त गुण है। मानवी बुद्धि ईश्वर के दो ही गुण पर्यायो को जान सकती है। ईश्वर के अचित् और चित् इन दो पर्यायो को वह जानती हैं। इसलिये मानव बुद्धि अनन्त[5] गुण मय ईश्वर रुप द्रव्य को गुण पर्यायो के रुप मे देखती है। वस्तुत विश्व ईश्वर का एक अणु रुप है।

वर्ण विभाजन की अपरिहार्यता

वर्ण विभाजन की पद्धति आधुनिक समय मे उतनी ही स्वाभाविक एवं अनिवार्य है जितनी पूर्व युग मे थी । आधुनिक समय का विभाजन वर्ण विभाजन न होकर वर्ग विभाजन है । समाज मे जो व्यक्ति उच्च मेधा-सम्पन्न होते है उन्हे उच्च प्रशासकीय सेवा के लिये चुना जाता है । इससे कुछ कम मेधा सम्पन्न व्यक्तियो को द्वितीय वर्ग की प्रशासकीय सेवा के लिये चुना जाता है उससे कम वाले व्यक्तियो को तृतीय वर्गीय सेवा मे नियुक्ति दी जाती है और निम्न मेधा सम्पन्न व्यक्ति चतुर्थ श्रेणी म रखे जाते है । यह चयन आपात क्रम अथवा यथागत क्रम से किया जाता है ।

आधुनिक मनोविज्ञान मे बुद्धि लब्धि (IQ) के माध्यम से योग्यता का मापन किया जाता है और १४० तक बुद्धि लब्धि वाले व्यक्ति को मेधावी १०० से १४० तक बुद्धि लब्धि वाले व्यक्ति को बुद्धिमान, १०० तक बुद्धि लब्धि प्राप्त व्यक्ति को सामान्य और इसमे कम बुद्धि लब्धि वाले व्यक्ति को मन्द बुद्धि करार दिया जाता है । यह बुद्धि लब्धि का मापदण्ड व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुकूल पद पर प्रतिष्ठित करने मे प्रयुक्त होता है । अत. वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन की दृष्टि से ही उपयोगी नही है अपितु योग्यता एव क्षमता के आधार पर व्यक्तियो के निवेश मे भी उपयोगी है गीता मे भी वर्णधर्म का विषय समझाते हुए अन्त मे कहा गया है —

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: ससिद्धि लभते नर. ।
स्व कर्म निरत: सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥

अर्थ यह है कि मनुष्य अपने-अपने वर्णानुसारी कर्म करते हुए मोक्ष रुप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है– और वह सिद्धि जिस प्रकार प्राप्त करता है उस उपाय को तू सुन ।[6]

यत· प्रवृत्तिर्भूतानायेन सर्वमिदततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दतितानव ॥

यथा जिस परमात्मा से प्राणियों की प्रवृत्ति निष्पन्न हुई तथा जिससे यह सब कुछ व्याप्त है उस परमात्मा को अपने वर्णाश्रमधर्म विहित कर्म के अनुष्ठान से पूजकर मनुष्य भगवत्प्राप्ति रुप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।[7]

वर्णाश्रम व्यवस्था सामाजिक संगठन की एक नितान्त वैज्ञानिक व्यवस्था थी । इससे समाज में समता, श्रम-विभाजन शान्ति और सुव्यवस्था रहती थी । राजा वर्ण तथा आश्रम धर्म की अधिष्ठाता अर्थात् गुरु कहलाता था । वर्णों और आश्रमो की

सुचारु व्यवस्था चलाना राज्य-व्यवस्था का प्रमुख अंग था। महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में वर्णाश्रम पालन संबंधी राजा के कार्यों का वर्णन करते हुए लिखते है:—

स राजा पुरुषों दण्ड: स नेता शासिता च सद
चतुर्णामाश्रमाणा च धर्मस्य प्रतिभूच

अर्थात् जो दण्ड हैं, वही पुरुष राजा, वही न्याय का प्रचार कर्त्ता और सबका शासन कर्ता, वही चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन है।[5]

महर्षि आगे कहते हैं :—
दुष्येसु सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतव: ।
सर्वलोक प्रकोपश्च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात् ।।

अर्थात् बिना दण्ड के सब वर्ण दूषित और सब मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जाय । दण्ड के यथावत् न होने से सब लोगों का प्रकोप हो जावे ।

वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था

वस्तुत जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था पर आरोपित है । वर्ण व्यवस्था किसी भी जाति मे जन्मे मनुष्यो को उनके व्यक्तिगत गुण-कर्मो के आधार पर निष्पक्ष रुप से वर्ण प्रदान करती है । जिस प्रकार सेना मे भर्ती के समय रिक्रूटिंग आफीसर के समक्ष सभी अभ्यर्थी एक जैसे होते हैं । वह उनको लाईन मे खडा कर उनके शारीरिक गठन व्यक्तित्व एव बुद्धि की परीक्षा कर उन्हे भिन्न-भिन्न सेवाओ के लिए सस्तुत करता है । कहा भी गया है कि :—

जन्मना जायते शूद्र: कर्मणा द्विज उच्यते ।

जन्म से सभी व्यक्ति शूद्र भाव मे उत्पन्न होते है किन्तु अपने जन्मजात गुणों की अभिव्यक्ति करने पर वे स्वय को भिन्न-भिन्न वर्णो के अनुरुप बनाते हैं । अत. वर्ण व्यवस्था विशेषत: वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था का स्वरूप आज की जाति व्यवस्था से सर्वथा भिन्न थी । वर्ण व्यवस्था का सच्चा रूप जाति-व्यवस्था में नहीं देखा जा सकता । जाति व्यवस्था मे वर्ण-सकरता के आ जाने का अन्देशा रहता है । जाति व्यवस्था मे किसी ब्राह्मण वश मे उत्पन्न हुए व्यक्ति में ब्राह्मणत्व का आरोपण किया जाता है चाहे उसमे ब्राह्मण के अपेक्षित गुण हो या न हों । ऐसी दशा में वर्ण-व्यवस्था के आदर्श का ह्रास होना अपरिहार्य हैं, साथ ही सामाजिक सद्भाव मे न्यूनता आ जाती है । बड़े दीर्घ काल से चली आ रही जाति व्यवस्था के दूषण कालान्तर मे भारी विस्फोट का कारण बन जाते हैं । आज मानव समाज इसी दूषण से विकृत है ।

'भास-कालिदास एवं भवभूति के नाटकों में वैदिक वर्ण-व्यवस्था'

डा० बीना बिश्नोई
प्रवक्ता महिला संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

मानव संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार जिनका कर्ता ब्रह्मा को तथा द्रष्टा चार ऋषियों को स्वीकार किया गया है। समस्त मानव समाज के अभ्युत्थान के लिए वेदों में अनुपम उपदेश तथा सुव्यवस्थित व्यवस्था प्राप्त होती है। चारों वेद मानव समाज के लिए प्रेरणा-स्त्रोत व जीवन निधि के रूप में मान्य है। भारतीय संस्कृति में समग्र मानव-समाज चार वर्णों में व्यवस्थित है।

वेदों की अनुगामिता को स्वीकार कर मानव-समाज व्यवस्था का श्रेष्ठतम स्वरूप प्रतिष्ठापित करने वाले मनु ने भी मनुस्मृति में चारों वर्णों का विशद् विवेचन करते हुए वर्ण व्यवस्था का महत्व प्रतिपादित इस प्रकार करते हुए) कहा कि सृष्टि के प्रारम्भ में पंच महाभूतों व पंचतन्मात्राओं सहित इस संसार के क्रमश उत्पन्न होने पर ईश्वर ने जीव को जिस कर्म में लगाया वह पुन पुन उत्पन्न होकर उसी कर्म को स्वयं ही स्वयं करने लगा जैसे ऋतु परिवर्तन के समय ऋतु स्वयं अपने चिन्ह धारण कर लेती है। मनु ने विश्व की रक्षा के निमित्त प्रत्येक वर्ण के पृथक पृथक कर्म निर्दिष्ट किए। व ब्राह्मणों की श्रेष्ठता ज्ञान में क्षत्रियों की शक्ति में वैश्यों की धन धान्य में और शूद्रों की आयु से मानी है। भगवद्गीता में भी गुणों व कर्मों के अनुसार सृष्टि रचना में चार वर्णों को समाहित किया गया है—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागश

चतुर्वेदों स्मृतियों व पुराणों आदि के द्वारा स्वीकृत चतुर्वर्णों मे ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में श्रेष्ठ स्थान मुख को प्राप्त है, उसी प्रकार स्वयं ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण सभी वर्णों मे श्रेष्ठ स्थान ब्राह्मण को प्राप्त है। मनु ने ब्राह्मण को जीव लोक के सभी प्राणियों मे श्रेष्ठ प्रदर्शित किया है।

"भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धि जीविनः।"

बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥

मनु ने ब्राह्मण के अध्ययन, अध्यापन, दान आदि ६ कर्म नियत किये हैं व दस वर्ष के ब्राह्मण बालक को सौ वर्ष के वृद्ध क्षत्रिय से बड़ा बताया है।

'ब्राह्मण दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।

पिता पुत्रौ विजानीयाद्, ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥

वैदिक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे वेदो व स्मृतियो से प्रेरणा प्राप्त कर आदिकाव्य रामायण व महाभारत की रचना हुई जिनमे ब्रह्मा प्रसंग लेकर व वैदिक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे विभिन्न कवियों ने समय-समय पर अपनी कल्पना-शक्ति व काव्यात्मक प्रतिभा के आधार पर विभिन्न काव्यो व नाटको की रचना की, उन्ही मे से भास, कालिदास व भवभूति के नाटक हैं। जिनमें हमे वैदिक वर्ण-व्यवस्था का उज्ज्वल रुप व वैज्ञानिक आधार मिलता है। मनु के समान भास ने भी 'पञ्चरात्र' नाटक मे भीष्म पितामह के द्वारा गुरु द्रोण को ब्राह्मण होने के कारण बड़ा प्रदर्शित कराया है। चारुदत्त नाटक मे भास ने ब्राह्मण को पूजनीय बताते हुए कहा है– 'पूजनीय. खलु स जन.' तथा 'मध्यम व्यायोग' नाटक मे राक्षस घटोत्कच माता की आज्ञा होने पर भी ब्राह्मण को पृथ्वी पर सर्वोत्तम व पूजनीय मानते हुए उसके वध के प्रति शंकायुक्त हो रहा है। भवभूति ने भी 'महावीर चरित' नाटक मे ब्राह्मण वध निषिद्ध बताया है तथा ब्राह्मण को सोमयज्ञ करने वाले ब्रह्मज्ञानी बताया है व इसी नाटक मे अन्य स्थान पर ब्राह्मणो के आशीर्वाद को सब अस्त्रो से ऊपर बताया है। उत्तर रामचरित' मे ब्राह्मण की वाणी को दिव्य वाणी बताया गया है। भवभूति ने उत्तर राम चरित में लव व सुमन्त्र के वार्तालाप के माध्यम से परशुराम को चारो वर्णो के अनुरुप बताते हुए वर्ण व्यवस्था का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार भास के नाटक अविमारक मे देवर्षि नारद के चरित्र का वर्णन ब्राह्मण के गुणो के अनुरुप किया है। महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक मे प्रत्येक शुभ कार्य व शिक्षा प्रदर्शन से पूर्व ब्राह्मण पूजा अनिवार्य बताई है।

इसी प्रकार भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' मे लव व चन्द्रकेतु को अश्वमेघ यज्ञ के नियमानुसार युद्ध के लिए प्रेरित होने व पुनः भ्रातृ प्रेम में विह्वल होने पर कहा है कि वीरो का वीर रस पूर्ण कठोर कर्तव्य स्नेह मर्यादा का उल्लंघन करने वाला होता है। मनु ने प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग वेष-भूषा का वर्णन किया है। (क्षत्रियो के लिए मूज की बनी मेखला पहनने का निर्देश दिया है)। भास ने भी 'अविमारकम्' नाटक मे अविमारक की पहचान क्षत्रियोचित वेश व गुणो से ही कराई है। महावीर चरित नाटक मे भवभूति ने मनु के ही समान दुर्दान्तो का दमन, यज्ञ समान व क्षत्रियों का कर्तव्य बताया। कालिदास ने क्षत्रियतेज को 'मालविकाग्निमित्र' नाटक मे इतना अधिक बताया है कि सामान्यजन द्वारा उनके समीप जाना भी कठिन है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् मे क्षत्रियो के लिए वानप्रस्थ आश्रम मे वन मे रहना कुलव्रत बताया गया है।

मनु ने वैश्य के लिए व्यापारिक शिक्षा का ज्ञान व अच्छे व्यापार के लिए विभिन्न भाषाओ का ज्ञान होना अनिवार्य बताया है, जिससे कि देश विदेशों तक व्यापारिक उन्नति, देश की प्रगति व अधिक धन उपार्जन हो सके। वैश्य को अन्न उत्पादन व खपत का उचित ज्ञान होना भी मनु ने आवश्यक कहा है। मनु ने वैश्य का कर्तव्य धर्म पूर्वक धन की वृद्धि करते हुए जीवो के लिए अन्न उत्पादन करना बताया है। महाकवि भास ने अपने नाटको मे ब्राह्मण की श्रेष्ठता क्षत्रिय की वीरता के साथ वैश्य की गुणवत्ता भी प्रदर्शित की गई है। चारुदत्त नाटक मे (वैश्य पुत्र) वणिक संवाहक बसंत सेना द्वारा परिचय पूछे जाने पर गर्व से अपना परिचय वणिक पुत्र बताता है व अपने वैश्योचित कर्म का उल्लेख गौरवान्वित होकर करता है।

मनु ने चतुर्थ वर्ण शूद्र मानकर उसका कर्म उपरोक्त वर्णों की सेवा द्वारा जीविका उपार्जन बताया है। मनु ने यद्यपि शूद्र को निम्न जाति वाला माना है परन्तु शूद्र भी अच्छे कार्य करे तो उत्कृष्ट जाति को प्राप्त कर सकता है उन्होंने आगे कहा है कि यदि ब्राह्मण भी कोई निन्दनीय कर्म करे तो वह ब्राह्मणत्व को छोड़कर शूद्रत्व को प्राप्त कर लेता है साथ ही मनु का कहना है कि वित्त बन्धु वय कर्म और विद्या इन पांचो गुणो की अधिकता जिस वर्ण मे होगी वही मान्य होगा।

भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' नाटक मे शूद्र शम्बूक को तपस्या करते हुए दिखाया है। शूद्र को भी तपस्या का अधिकार है। वह तपस्या से ब्राह्मण के समान ऊंचा उठता हुआ प्रदर्शित किया गया है। उसकी तपस्या का प्रतिफल दिखाया है भगवान राम के दर्शन, जिन्हे प्राप्त करने के लिए सब तपस्या करते हैं वे स्वयं उसे ढूंढते हुए आते हैं व ब्रह्मलोक प्राप्त करने का आशीर्वाद देते हैं। इस प्रकार मनु का यह कथन कि दस दशक मे पहुंचा हुआ शूद्र भी मान्य होगा, भवभूति ने शम्बूक के माध्यम से सत्य सिद्ध किया है।

वेदो व स्मृतियों मे चार वर्णो, के अतिरिक्त वर्णेत्तर जातियो का वर्णन भी मिलता है। जिन्हे शूद्र से भी निम्न माना गया है, यजुर्वेद मे इन्हे अरण्य से सम्बोधित किया जाता है। व्यास स्मृति मे इन्हे अन्त्यज व मनुस्मृति मे मनु ने निम्न जातियो को वर्णसंकर कहा है व वर्णेत्तर जातियो के अन्तर्गत माना है। भास के सभी नाटको मे अन्त्यज कहलाने वाली जातियो का वर्णन स्थान - स्थान पर मिलता है। भवभूति के नाटको मे भी वर्णेत्तर जातियो के अन्तर्गत नट भट सूत आदि का वर्णन मिलता है। कालिदास ने वर्णेत्तर जातियों मे सूत और धीवर का वर्णन किया है।

महाकवि कालिदास ने अन्त्यज के माध्यम से वंश परम्परागत कार्यो के महत्व का अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार द्वारा बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म मे आस्थावान व गर्वित होना चाहिए एक-मछली पकड़ने वाले सामान्य नागरिक के कथन के माध्यम से कालिदास ने समाज को सन्देश दिया है। यहा कालिदास ने भास की 'अविमारक' नाटक मे अन्त्यजो के विषय मे यह उक्ति कि अकुलीनों मे चरित्र व ज्ञान का अभाव होता है, गलत सिद्ध कर दिया है। इसी प्रकार भवभूति मे भी उत्तर राम चरित मे शूद्र शम्बूक को तपस्वी दिखाकर भास के उक्त कथन 'अकुलीनो' के चरित्र निर्मल नही होते' को अनुचित ठहराया है। व्यवहारिक रुप मे प्रत्येक व्यक्ति चाहे वर्णो के कर्म नित्य प्रति करता है।

वैदिक संहिताओं में वर्ण-व्यवस्था

डा० सत्यव्रत राजेश
दयानन्द नगरी, ज्वालापुर-हरिद्वार

वैदिक संस्कृति के अनुसार मानव जीवन को दो प्रकार से विभक्त किया गया है, एक कार्य की दृष्टि से और दूसरा आयु की दृष्टि से। कार्य की दृष्टि से किए विभाजन को वर्ण तथा आयु की दृष्टि से किए विभाजन को आश्रम कहते हैं। इस लेख में वर्ण के विषय पर ही विचार किया जाएगा। समाज सचालन के लिए चार प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, वे है—शिक्षक, रक्षक, पोषक तथा सेवक। या यों कहो कि समाज के सम्मुख चार समस्याएँ खड़ी मिलती हैं। वे है अज्ञान, अन्याय, अभाव तथा असहयोग। इनके निवारण की जो दीक्षा लेते हैं वे क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कहलाते हैं। यह वर्ण विभाजन भी जन्म के आधार पर न होकर कार्य अथवा रुचि के आधार पर होता है। क्योंकि बाध्य करके कोई कार्य कराया जाएगा तो व्यक्ति न तो उस कार्य को ठीक प्रकार से कर सकेगा तथा न उस कार्य को करके उसे प्रसन्नता ही होगी। इसके विपरीत रुचि के अनुसार कार्य मिलने पर व्यक्ति उसे ठीक ढंग से भी करेगा तथा उसे करने मे उसे प्रसन्नता भी होगी। यह भी यथार्थ है कि शिक्षक तथा उपदेशक के बिना समाज मे अज्ञान तथा अन्ध परम्पराएं पैर फैलाएंगी रक्षक के बिना मत्स्यन्याय फैल जाएगा, बड़ा छोटे को खा जाएगा, अन्याय अत्याचार तथा अराजकता का बोल बाला हो जाएगा तथा सन्मार्ग एव विशुद्ध परम्पराओ का लोप हो जाएगा तथा लोग मनमानी करने लगेंगे। पोषक के बिना अभाव की विभीषिका समाज को निगलने को तैयार हो जायगी, धर्म कर्म का लोप हो जाएगा तथा मानव भेड़िया बन जाएगा। सेवक के बिना मुख्य काम करने वाले चूल्हे चौके, वस्त्र तथा बरतन धोने तथा झाड़ू बुहारी मे लगे रहेंगे। इस प्रकार राष्ट्र के मस्तिष्क उच्च वैज्ञानिक कार्यों के लिए कम से कम समय निकाल सकेंगे और राष्ट्र की अकथनीय हानि होगी। इसी लिए वेद ने चार वर्णो मे समाज को विभक्त किया है जो पूर्णत: वैज्ञानिक है।

वेद में अनेक स्थानों पर चार वर्णों का उल्लेख हुआ है। एक मन्त्र में सरल मार्ग से चलने वाले तथा विद्या रूपी धन वाले आचार्य से कहा गया है- कि क्या आप मुझे

जन समुदाय के अन्दर गोपाल (शूद्र) बनाओगे या राजा (क्षत्रिय) बनाओगे या सोमपायी ऋषि (ब्राह्मण) बनाओगे या अमृत-असीम धन दोगे ?[1]

हमारे ब्राह्मणों मे दीप्ति-तेज भर दो, हमारे क्षत्रियों मे तेज भरो, वैश्य और शूद्रों में तेज भरो तथा तेज से मुझे भी तेजस्वी बना दो।[2] इस मन्त्र मे भी चारो वर्णो का नामोल्लेख पूर्वक कथन हुआ है। एक मन्त्र मे परमेश्वर कहते है कि– जैसे मैंने इस कल्याणी वाणी अर्थात् वेद को सब मनुष्यो अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय, शूद्र तथा अर्य अर्थात् वैश्य– अर्यः स्वामिवैश्ययोः अष्टाध्यायी के लिए उपदेश किया है (वैसे तुम भी सबके लिए इसका उपदेश करो)।[3] यजु० ३०,५ मे भी चारो वर्णो का उल्लेख करते हुए कहा है कि ब्रह्मज्ञान और वेदप्रचार के लिए ब्राह्मण राज्य सचालन के लिए क्षत्रिय पशु तथा प्रजापालन के लिए वैश्य तथा प्रेम से सेवा करने तथा शुद्धि करने वाले शूद्र को तप के लिए सब राष्ट्र मे उत्पन्न करो।[4] एक अन्य मन्त्र चारो वर्णो का उल्लेख करते हुए कहता है– मुझे देवों–विद्वानों ब्राह्मणो मे प्रिय बना क्षत्रियों में प्रिय बना, सब देखते हुओ का प्रिय बना तथा शूद्र तथा वैश्यो का प्यारा बना।[5] अर्थात् वेद के ही एक मन्त्र मे ही दर्भ के समान पापियो को चुभने वाले राजा से कहा है— आप मुझे ब्राह्मण क्षत्रिय शूद्र तथा वैश्यो का प्रिय बनाओ।[6]

इस प्रकार वेद के अनेक मन्त्रो मे वर्णचतुष्टय का उल्लेख मिलता है। कही एक दो या तीन वर्णो का भी उल्लेख हुआ है यह प्रसगानुसार ही है।

१– कुविन्मा गोपा करसे जनस्य कुविद्राजान मघवन्नृजिषिन्।
कुविन्म ऋषि पपिवास सुतस्य कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षा। ऋ ३,४३,५॥

२- रुच नो धेहि ब्राह्मणेषु रुच राजसु नस्कृधि।
रुच विश्येषु शूद्रेषु मयिधेहि रुचा रुचम्॥

३– यथेमा वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य। ब्रह्मराजन्याभ्या शूद्राय चार्याय च ॥यजु० २६,२॥

४– ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्य मरुद्भ्योवैश्य तपसे शूद्रम॥

५– प्रियं मा कृणु देवेषु प्रिय राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ ॥अ० १६ ६२ १॥

६– प्रिय मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय ॥अथर्व० १६ ३२ ८॥

मुख के समान गुणो वाला इस समाज मे ब्राह्मण है, भुजाओं के गुण वाला क्षत्रिय, अरु तथा पेट के गुणयुक्त वैश्य तथा पैरो के गुणवाला शूद्र है। मुख मे तीन गुण विशिष्ट है– ज्ञान, तप तथा त्याग। सारी ज्ञानेन्द्रियो का केन्द्र मुंह है, चेहरा है। कान नेत्र जिह्वा नासिका का मुख्यतया तथा त्वचा का सामान्यता केन्द्र मुंह ही है। इसी प्रकार समाज मे ज्ञानविशिष्ट व्यक्ति ब्राह्मण माना जाएगा। मुख का दूसरा गुण है तप। शीत काल मे सारे शरीर को वस्त्रो से ढकते है किन्तु यह यपस्वी सदैव खुला रह कर शीत ताप वर्षा के थपेडो को सहता रहता है। मुख का तीसरा गुण है त्याग। उत्पन्न होने से लेकर मरण पर्यन्त व्यक्ति जो भी खाता है वह मुह से ही खाया जाता है। किन्तु मुंह अपना कार्य करके उसे पेट को दे देता है। अपने पास नही रखता। ये तीन गुण जिसमे विशिष्ट हो वह समाज मे ब्राह्मण माना जाएगा।

क्षत्रिय को भुजा के गुण वाला कहा गया है। हाथ के काम शोधन, कण्टकमोचन तथा ताडन विशेष है। जैसे कि पिता घर का स्वामी होते हुए भी सन्तान का ध्यान रखता है तथा उनका पालन करता है उसी प्रकार के व्यवहार करने वाले को क्षत्रिय माना जाएगा।

वैश्य को ऋग्वेद तथा यजुर्वेद ने ऊरु तथा अथर्ववेद ने 'मध्यम्' अर्थात् उदर कहा है। ऊरु का कार्य गमनागमन है तथा पेट का काम है परिष्कृत करके अनुपयोगी को पृथक् करना तथा उपयोगी को शरीर के अनुरूप बना कर सारे शरीर को बाट देना। इसी प्रकार जो व्यक्ति व्यापारार्थ देश विदेश मे आए जाए, वहा से उपयोगी वस्तुओ ला कर उसे समाज के अनुरूप बनाकर फिर सारे समाज मे वितरण करे तथा जो यहा उपयोगी नही है या उपयोग से अधिक है उसे बाहर विदेश मे निकाल दे, वह व्यक्ति वैश्य कहा जायेगा।

पैरों का काम मुख, बाहु तथा उदर आदि के भार को वहन करना है। जो व्यक्ति ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य के दैनिक कार्यो के भार को अपने जिम्मे ले लेता है तथा उन्हे अपने कार्यो को करने के लिये अधिक से अधिक अवकाश प्रदान करता है वह समाज मे शूद्र कहा जायेगा।

महर्षि दयानन्द ने भी यजुर्वेद २२.२२, ३१.११, २६.४७, ७ ४६, ३०.५ तथा १८ ४४ मे वेद तथा ईश्वर को जानने वाला, ब्राह्मण पद का अर्थ किया है। १०.१८ मे 'ब्राह्मणानाम्' का अर्थ 'ब्रह्मवेद भक्तानाम्' किया है। यजुर्वेद ३०.५ में - ब्रह्मणे ब्राह्मणम् का भी यही भाव है। क्षत्र का अर्थ भी उन्होने यजु० २०.१० मे क्षताद्रक्षके क्षत्रियकुले' किया है। ३०५ मे आए-क्षत्राय राजन्यम् का भी यही भाव है। यजु. ३१ ११ मे वैश्य का अर्थ उन्होंने-यो यत्र तत्र विशति प्रविशति तदपत्यम् किया है। मरुदम्यो यजु० ३०.५ का भी ऐसा ही भाव है। 'शूद्रम' का अर्थ उन्होने ३०.५ मे उन्होने 'प्रीत्या सेवक शुद्धिकरम्' किया है। वहां-तपसे शूद्रम्-का भाव भी द्वन्द्व सहन करके समाज की प्रेम से सेवा करना तथा उसकी शुद्धि करना शूद्र का काय बतलाया है।

समाज में शूद्र की स्थिति—

यद्यपि मध्यकाल मे शूद्रो की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी। उन्हें अस्पृश्य बताकर समाज से बहिष्कृत सा कर दिया था। वेदपाठ का उन्हे अधिकार नही था। वेदाध्ययन करने पर उन्हे दण्ड का विधान था। उन्हे श्मशान जैसा अपवित्र भी कहा गया था। अन्य भी अनेक विसंगतियो का उन्हे शिकार बनाया गया था। किन्तु वेद मे एक भी ऐसा प्रमाण नही मिलता जिससे शूद्र को ऐसा कहा गया हो। वेद मे तो एक ही परिवार मे विभिन्न वर्णो के लोगो के प्रेम पूर्वक रहने के संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे कहा है कि मैं शिल्पी हू, पिता वेद्य तथा माता पत्थर का कार्य करने वाली है। धन के इच्छुक हम विभिन्न कार्य करते हुए एक ही घर मे ऐसे रहते है जैसे एक ही गोष्ठ मे अनेक गाए प्रेम से रहती हैं।[1]

युगद्रष्टा महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थो मे इस मान्यता का प्रबल रुप से खण्डन किया है। उनके अनुसार शूद्र भी वैदिक समाज का एक अग है। वर्णो मे कार्यभिन्नता होती हैं। आचार व्यवहार भिन्नता नही। जहा तक पद्भ्या शूद्रों अजायत का प्रश्न है। महर्षि जी ने पद्भ्याम् का अर्थ सेवा निरभिमानाभ्याम् किया है। यह अर्थ है भी युक्त। क्योकि जिस मन्त्र के उत्तर मे यह मन्त्र है वहा पूछा गया था। कि जिस पुरुष का विधान किया गया है उसे कितने विभागो मे कल्पित, किया गया हैं। उसका मुख बाहु उरु तथा पैर कौन हैं। जब प्रश्न ही यह नही किया था कि कौन किमसे उत्पन्न हुआ है तो उत्तर मे यह कैसे मान लिया जाए कि ब्राह्मण आदि, मुखादि से उत्पन्न हुए है। अतः वैदिक वर्ण व्यवस्था समाज के लिए एक आदर्श है।

१- कारुरह ततो भिषगुपल प्रक्षिणीनना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमः ॥६ ११२३॥

'वैदिक वर्णव्यवस्था का वैज्ञानिक आधार'

डा० सभापति शास्त्री

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः'

गीता के इस कथन में वर्णो की वैज्ञानिकता अधिक प्रतीत होती है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न इन चारो वर्णो की वैज्ञानिकता केवल गुणो से ही सिद्ध हो सकती है। पुरुषसूक्त मे उद्धृत 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' से प्रतीत होता है कि जिसमे रजगौण और सत्व प्रधान है वह ब्राह्मण है। 'बाहू राजन्य.' क्षत्रिय में रज प्रधान और सत्व गौण होता है। वैश्य मे तम गौण और रज प्रधान होता है तथा शूद्र मे केवल तमस प्रधान है। इसी लिए गुणों के अनुसार ही इनके कर्म भी निश्चित होते हैं।

यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तत् अभिसम्बद्यते। फलश्रुकरता।

उपर्युक्त सिद्धान्त श्रुति, तर्क एवं अनुभव से नितान्त वैज्ञानिक प्रतीत होता है। जन्मान्तरों की कर्मफलवासना से ही जन्म माना गया है। अतः इसका (मलदोष) का निराकरण भी केवल कर्म द्वारा ही सम्मति है किन्तु उस कर्म द्वारा जो कम फलाकाक्षा से रहित हो गीता में कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।

तथा

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव ।

उन गुण और कर्मो के अनुसार समस्त स्मृतियो में चारों वर्णो के कर्मो का निर्धारण किया है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है मैंने सारे विश्व मे घूमकर देखा है कि वे समस्त आचार्य और चिन्तक एक सामाजिक वर्णव्यवस्था का निर्माण करने मे प्रयत्नशील रहे हैं किन्तु उन्हे असफलता ही हाथ लगी, यह भारत मे केवल उसकी मनीषा से ही सम्भत हुआ और आज भी समाज को चार वर्णो मे नही बांटा जा सकता जिसे प्रक्रित ने स्वयं विभाजित कर रखा है।

प्रस्तुत संदर्भ मे गीता के इन श्लोकों को देखा जा सकता है —

यदहङ्कार माश्रित्य न यत्सेति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वा नियोक्ष्यति।
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्ध: स्वेज कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यसि अवशोपि तत्।

यहां स्वभाव और प्राकृत पर्यायवाची ही है। वर्तमान जन्म मे प्रवृत्ति और निवृत्ति, सुख दु:खादि की सिद्धि के हेतु होने के कारण पूर्वजन्म के पाप पुण्यादि कर्म संस्कारो को स्वभाव कहते है और यही मानव की मूल प्रकृति है। अत: हम वैदिक वर्णव्यवस्था की वैज्ञानिकता को गुण कर्म विभागश के नियम से नियमित कर सकते हैं।

वर्तमान राजनीति और वर्ण-व्यवस्था

वर्तमान मे वर्ण-व्यवस्था पर बहुत आक्षेप लगाए जाते है और इसी के ऊपर भारत की अवनति का दायित्व रखा जाता है। कुछ राजनीतिक पार्टियां सम्पूर्ण मनुवादि व्यवस्था पर ही लाञ्छन लगाकर उसका तिरकार करती है। उनके अनुसार वर्ण-व्यवस्था ने ही समाज मे विद्वेष- फूट व सघर्ष की स्थिति उत्पन्न कि गई है। इस वर्ण-व्यवस्था के उन्मूलन मे ही भारत का हित निहित है पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो उपर्युक्त आपेक्ष निमूंक ही सिद्ध होता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि जो राजनीतिक पार्टियां वर्ण-व्यवस्था को वाछित करती है, वे स्वय वर्ण-व्यवस्था को प्रोत्साहित कर अपना सकुचित स्वार्थ सिद्ध करने की चेष्टा करती है। वर्ण-व्यवस्था के दुरुपयोग से भले ही समाज मे कुछ बुराइया उत्पन्न हो गई है पर उनका समाधान वर्ण-व्यवस्था के उन्मूलन मैं नही वरन् उसके सदपयोग मे निहित है। आज के राजनीतिज्ञो ने अपने दृष्टि-दोष के कारण समाज का जितना अहित किया है उतना शायद ही किसी अन्य ने किया हो। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम उनकी माया को विदीर्ण कर उनके वास्तविक अवाछनीय चेहरे को समाज के समक्ष उजारा करे। आज दार्शनिको का यही परम कर्तव्य है। यही दार्शनिको का युग-धर्म है।

समाज का जैविक सिद्धान्त

जैविक सिद्धान्तो मे समाज की उपमा एक जीवित प्राणीयो से की गई है जिस प्रकार शरीर अनेक अगो से मिलक बना है उसी प्रकार समाज भी अनेक अगो से निर्मित हुआ है। जिस प्रकार शरीर केवल विभिन्न अंशो का समुच्चय ही नही होता, अशो से पृथक उसका अस्तित्व होता है, उसी प्रकार समाज भी व्यक्तियो केवल समूह नही है, व्यक्तियो से पृथक भी उसका एक अस्तित्व होता है। जिस प्रकार शरीर से पृथक् उसके अशों की कल्पना नही की जा सकती, ठीक उसी प्रकार समाज से पृथक् व्यक्तियों के अस्तित्व की कल्पना नही की जा सकती। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि समाज और व्यक्ति के बीच अगी और अग का सम्बन्ध होता है।

समाज और उसमें रहने वाले व्यक्तियों के बीच जैविक सम्बन्ध पाया जाता है। समाज के जैविक सिद्धान्त के निम्ननिहितार्थ हैं :—

(१) समाज तथा उसके विभिन्न अंगों के बीच अन्योन्याश्रय या अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध पाया जाता है।

(२) जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगो के कार्य पृथक्-पृथक् होते हुए भी उनमे परस्पर अपूरकता पाई जाती है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अशो के कार्य पृथक्-पृथक् होते हुए भी उनमे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगो के कार्य मे पृथकता होते हुए भी सम्पूर्ण शरीर के हित–साधन में एकनिष्ठता होती है उसी प्रकार समाज के विभिन्न वर्गो अथवा वर्णो के कार्य मे पृथकता होते हुए भी समाज के हित–साधन में एक निष्ठता होती है।

कुण्ठा व नैराश्य से युक्त समाज

कोई भी सार्थक कार्य करने मे असमर्थ होता है। आरक्षित वर्ग समाज मे ठीक प्रकार अभियोजित भी नही कर पाता क्योकि वह हीनता–ग्रान्थ (Inferiorty Complex) से सदा ग्रस्त रहता है। ऐसा देखा गया है कि जो आरक्षण के आधार पर उच्च पदो पर आसीन हो जाते हैं वे स्वजातीय व सवर्गीय वर्गो को पहचानने से भी इनकार करते है।

आज भारतीय राजनीति मे जो विपर्यय और अराजकता दिखाइ देती है उसका प्रमुख कारण यह है कि विभिन्न राजनीतिक पार्टियां सभी वर्णो या वर्गो का हित–साधन न कर केवल कुछ वर्ण के ही हित-साधन का उपक्रम करती हैं। वे विभिन्न वर्णो मे प्रतिद्वन्दिता, विद्वेश और घृणा उत्पन्न कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करती है। इससे समाज का अहित तो होता ही है, उनका भी अहित होता है। केवल एक वर्ण या जाति को पुरस्कृत करने तथा अन्य वर्णो को तिरस्कृत करने से कोई भी राजनीतिक पार्टी स्थायी अर्जित नही कर सकती। अपनी–अपनी शक्ति लगाकर अपने–अपने कार्यो द्वारा सभी वर्णो का हित करते रहें।

यदि इस नियम में कहीं व्यक्तिक्रम दिखाई पड़ता है तो इसका कोई न कोई बाह्य प्रबल कारण को दूर कर आनुवशिक गुणो को उजागर किया जा सकता है। अत: वर्ण और जाति दोनों एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न नहीं है। जातियों के अनुरक्षण से विभिन्न वर्णो की विशेषताओ को सुरक्षित रखा जा सकता है। शास्त्रों मे वर्ण-सकर की निन्दा इसलिए की जाती है क्योंकि वे वर्णगत् व जातिगत विशेषताओ को नष्ट कर देते है। मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है :—

जिस समाज मे वर्णो को दूषित करने वाले वर्ण—संकर अधिक पैदा होते है वह समाज मे या राष्ट्र की उन व्यक्तियो के साथ नष्ट हो जाता है।[1]"

जातीय अथवा आनुवशिक संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि उन्हें दूर करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी होता है। इस सम्बन्ध मे विश्वामित्र व वशिष्ठ का उदाहरण उल्लेखनीय है। विश्वामित्र एक क्षत्रिय राजा थे पर वरिष्ठ एक ब्राह्मण ऋषि थे। विश्वामित्र के बार-बार तप करने पर भी वे वशिष्ठ ऋषि के ब्राह्मणतत्व को प्राप्त नहीं कर सके। उनका आनुवशिक गुणा सदा उन्हे ब्राह्मणत्व प्राप्त करने से रोकता रहा। इस उदाहरण से स्पष्ट है एक वर्ण से दूसरे वर्ण अथवा एक जाति से दूसरी जाति मे सक्रमण कितना कठिन कार्य होता हे।

भारत के ऋषि—महार्षियों का यह भी ध्यान था कि सब प्रकार के बलो की उन्नति समाज में की जाय किन्तु उन बलों के दुरुपयोग से समाज को किसी प्रकार का कलेश न हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अपनी व्यवस्था मे एक बल का नियन्त्रण दूसरे बल द्वारा करने का प्रावधान किया। नियन्त्रण निग्रह और अनुग्रह दोनो द्वारा सम्भव होता है। इस दृष्टि से शूद्र-बल का नियन्त्रण वैश्य बल द्वारा, वैश्य बल का नियन्त्रण क्षत्रिय बल या शासन बल द्वारा तथा क्षत्रिय बल का नियन्त्रण ब्रह्म-बल द्वारा करने का प्रावधान किया गया। ब्रह्म-बल आध्यात्मिक बल है। इसके नियन्त्रण की कोई आवश्यकता महसूस नहीं की गई क्योंकि आध्यात्मिक बल का दुरुपयोग आध्यात्मिक बल को ही समाप्त कर देता है।

यस्मिन्नेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषका:।
राष्ट्रि कै सह तद्राष्ट्र क्षिप्रमेव विनश्यति ॥

अन्तिम निष्कर्ष –

समाज मे वर्ण–व्यवस्था रूचि-वैचित्र्य के आधार पर निर्मित की गई है सभी को रूचि एक समान कभी नही हो सकती । अतः समाज मे वर्ण-व्यवस्था एक स्वभाविक उपज है । इसका उन्मूलन कभी भी सभव नही है । इसी बात को भगवान श्री कृष्ण ने गीता मे इस प्रकार व्यक्त किया है—

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणा कर्म विभागशः ।
> तस्य कर्तारमपि मा विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

भगवान द्वारा सृष्ट होने का तात्पर्य यह है कि वर्ण-व्यवस्था किसी न किसी रूप मे समाज मे अवश्य विद्यमान रहेगी । अत जो राजनीतिक पार्टिया उनके उन्मूलन की बात करती है वे वर्ण-व्यवस्था के कम को नही समझती । समाज मे प्रत्येक वर्ण और जाति को अपने वर्ग के हित साधन का पूरा अधिकार है किन्तु यदि उस हित साधन से समाज का अहित हो तो उसे उसका परित्याग कर देना चाहिए । वर्ण-व्यवस्था किसी वर्ण या वर्ग के हित साधन के लिए निर्मित की गई है जो सम्पूर्ण समाज का हित करता है वह परमात्मा के कार्य का ही सम्पादन करता है वह परमात्मा के कार्य का ही सम्पादन करता है । भारत वर्ष मे आरक्षण-व्यवस्था जिससे किसी वर्ग–विशेष का भले ही हित-साधन होता हो पर सम्पूर्ण समाज का तो अहित ही होता है अत. देश आरक्षण का जितना शीघ्र परित्याग कर दे उतना ही उसका भला होगा ।

★

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में वर्ण-व्यवस्था एक अर्थ वैज्ञानिक आधार

डा० विक्रमकुमार विवेकी

आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक वर्ण व्यवस्था को सामाजिक अव्यवस्था के कारण उत्पन्न दु.खो का निवारक एवं सुखमूलक–व्यवस्था का कारक मानते हैं। सम्पूर्ण भूमण्डल मे दुख का मूल कारण "निर्धनता" है तथा अज्ञान, अन्याय व अभाव के कारण ही निर्धनता उत्पन्न होकर विविध दु खो का कारण व माध्यम भी बनती है। इन दु खो की निवृत्ति हेतु विभिन्न महापुरुषो ने विविध प्रयत्न किये है। स्वामी दयानन्द ने भी एतद्विषयक अनेक विचारो की अभिव्यक्ति की है। चू कि स्वामी दयानन्द अध्यात्म के उद्गाता होने के साथ-साथ भौतिक जगत् की भी अनेक समस्याओ को सुलझाने वाले थे।

आर्य समाज ने किया, नहीं किया

आर्य समाज ने अपने संस्थापक महर्षि के द्वारा प्रदर्शित विभिन्न आदर्शों को लेकर समाज मे प्रबल आन्दोलन किये है, परन्तु समाज की प्रमुख समस्या निर्धनता व आर्थिक विषमता के निवारण मे उदासीनता दिखाने के कारण आज वह अपने प्रवर्तक की निर्वाण-शताब्दी को मानने के बाद स्वयं निर्वाणोन्मुख हो रहा है। आर्यसमाज ने शास्त्रार्थ द्वारा असत्य खण्डन, सत्य मण्डन, कर्तव्य कर्मकाण्ड आदि का परिपालन व गुरुकुल और स्कूल कालेज आदि के माध्यम से अध्ययन-अध्यापन आदि स्तुत्य प्रयास तो बहुत किये, परन्तु वह पडौसी की भूख मे "भाग्यवाद" को ही कारण मानता रहा। महर्षि दयानन्द के दिल मे विषमता के विरुद्ध दहकती आग को आर्यसमाज का नेतृत्व नही पहचान पाया। यही कारण है कि दयानन्द के अनुयायी एक शताब्दी की दीर्घावधि मे एक गाव को भी पूरा आर्यसमाजी नही बना पाये, जबकि उसी अवधि में कार्ल-मार्क्स के अनुयायियो ने उसके प्रमुख कार्यक्रम "आर्थिक-शोषण-विरोध" को लेकर आज दुनिया की दो तिहाई से भी ज्यादा आबादी को अपना समर्थक बना लिया है।

ऐसी बात नहीं कि महर्षि दयानन्द के पास शोषण-व्यवस्था के विरुद्ध कोई कार्यक्रम ही नहीं था। वे तो एक सर्वांगीण कार्यक्रम दे गये हैं, जिसका कार्ल-मार्क्स के पास भी अभाव है। वह अद्भुत कार्यक्रम क्या है, उसको वर्णव्यवस्था के माध्यम से बतलाना ही यहां पर हमारा ध्येय है।

वैदिक समाज व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था)—

वर्तमान समाज में दो आर्थिक व्यवस्तुएं प्रचलित हैं. दोनों ही अधूरी हैं। वे है— पूंजीवादी व्यवस्था और साम्यवादी व्यवस्था है। पूंजीवादी व्यवस्था में पैसा कुछ लोगों के पास अनुचित तरीकों से इकट्ठा हो जाता है और समाज की अधिकाश जनता अभाव, गरीबी व शोषण के कारण दुःख और कष्टों को झेलती रहती है। दूसरी ओर साम्यवादी व्यवस्था में भी अनेक दोष हैं। सभी को एक जैसा ही लाभ मिलने से व्यक्ति में विशेष उन्नति करने का उत्साह नहीं रहता, व्यक्ति की शक्ति और योग्यता का पूर्ण सदुपयोग नहीं हो पाता। परन्तु वैदिक समाज व्यवस्था में उपर्युक्त दोष नहीं हैं। हमारे विचार में पूंजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा "साम्यवादी व्यवस्था" श्रेयस्कर है। परन्तु साम्यवाद के दोषों से रहित "वैदिक समाज-व्यवस्था" सर्वोत्तम है। पूंजीवादी व्यवस्था में लोग रोटी कपड़ा, और मकान के बिना दुःखी रहते हैं। साम्यवादी व्यवस्था में सबको रोटी, कपड़ा और मकान तो मिल जाता हैं, परन्तु भौतिकता की परिधि में ही लिपटी हुई यह व्यवस्था अध्यात्म से अछूती रह जाती है जो कि मानव का एकमात्र और अन्तिम उद्देश्य है। वैदिक समाज व्यवस्था में कोई भूखा तो मरेगा ही नहीं, साथ ही उसे मानसिक और आत्मिक सन्तुष्टि के साथ जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक स्वस्थ व स्वच्छन्द वातावरण भी मिलेगा।

वस्तुतः, स्वामी दयानन्द द्वारा अनुमोदित वर्ण-व्यवस्था एक अद्वितीय समाज व्यवस्था है, जिसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। वर्णाश्रम व्यवस्था के माध्यम से सबको इच्छानुसार प्रगति का वातावरण व अवसर मिलेगा। सब को जीने के साधन मिलेंगे। किसी का शोषण नहीं हो सकेगा। वर्णाश्रम-व्यवस्था का उद्गम स्रोत वेद स्वयं कहता है कि कोई व्यक्ति भूख के कारण नहीं मरेगा।[1]

---

१. न वा उ देवा: क्षुधमिद्वधं ददु:। (ऋग्० १०.११७ १)
अर्थात् परमात्मा ने निश्चय से ही भूख को मृत्यु का कारण नहीं बनाया है।

स्वामी दयानन्द के मन्तव्य—

स्वामी दयानन्द समाज से "असमानता" और "शोषण" की समाप्ति के लिए व्यक्ति के बचपन से ही उस "समानता" की बात करते हैं[1], जो व्यक्ति व सम्पत्ति के ऊपर राज्य के नियन्त्रण के बिना असम्भव है। वे बच्चे पर माता-पिता का स्वाधिकार शिशु-अवस्था तक ही मानते है। बाद मे उस बच्चे के प्रति कर्तव्य को सरकार के कन्धो पर डाल देते हैं।[2] जिसके अनुसार वे माता-पिता जो अपने बच्चे को शिशु-अवस्था के बाद सरकार को नही सौंपेंगे वे दण्डनीय होगे। इस मन्तव्य के अनुसार राष्ट्र मे स्कूल, कालेज व विश्वविद्यालय आदि पाठशालाये सभी राष्ट्रीयकृत होगी। उनमे से एक जैसी ही रहन-सहन व विद्यार्थी अध्ययन की समाप्ति तक माता-पिता के साथ उनका किसी भी प्रकार का सम्पर्क नही रहेगा।[3]

जब तक छात्र विद्याध्ययन मे रत होगे तब तक उनके माता-पिता अपनी ड्यूटी मे सलग्न होगे। अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव व योग्यता के अनुसार वे चाहे "ब्राह्मणत्व" को धारण कर अध्यापन, अनुसन्धान व विज्ञानोन्नति मे लगे होगे, "क्षत्रियत्व" को धारण कर सेना, पुलिस आदि के रूप में सुरक्षा मे सनद्ध होगे, "वैश्यत्व" को अपनाकर कृषि, गोपालन, वाणिज्य, कारखाने आदि के द्वारा वस्तुओं के उत्पादन के माध्यम से राष्ट्रीय आवश्यकताओ को पूरी कर रहे होगे या "शूद्रत्व" को स्वीकार कर समाज के लोगों को अनेकविध सेवा शुश्रूषा रूपी कर्तव्य को निभा रहे होगे।

---

१. सब को तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जाये चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हो, सबको तपस्वी होना चाहिए।
सत्यार्थप्रकाश (तृ०समु)

२. इसमे राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पांचवे अथवा आठवे वर्ष के आगे कोई अपने लड़को और लड़कियों को घर मे न रख सके। पाठशाला मे अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।
स० प्र० (तृ०समु०)

३. उनके माता-पिता अपने सन्तानो से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र व्यवहार एक-दूसरे से कर सकें जिससे ससारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें।
स० प्र० (तृ०समु०)

सन्तान-परिवर्तन—

स्वामी दयानन्द के इन उदात्त विचारो से एकसुनही समाज-व्यवस्था स्पष्टतया सामने उभर कर आती है– प्रत्येक शिशु जन्म के बाद ५ या ६ वर्ष तक माता-पिता के पास रह कर शैशव बितायेगा। तदनन्तर विद्योपार्जन की अवस्था तक वह सरकार के अधीन व सरकारी व्यवस्था मे ही रहेगा। विद्योपार्जन कर स्नातक होने के पश्चात् यदि वह छात्र अपनी योग्यता व स्वीकृत-वर्ण के अनुसार पैतृक व्यावसाय को ही सम्भाल सकेगा तो उसे ही (सरकारी व्यवस्थानुसार) सम्भालेगा, नही तो सरकार उसे उसकी योग्यता के अनुसार दूसरे परिवार (वर्ण) मे भेज देगी, जहा उसके योग्य व्यवसाय उसे अवश्य ही मिलेगा, बेरोजगार नही रहेगा।

आपाततः देखने मे यह व्यवस्था बड़ी अटपटी एव अव्यावहारिक सी लगती है, परन्तु इसी व्यवस्था द्वारा समाज से विषमता मिट सकती है और शोषण को समाप्त किया जा सकता है। क्योंकि यही एक मात्र व्यवस्था है जिसके कारण एक व्यक्ति को एक ही अर्थोपार्जन का साधन और वह भी अवश्य मिलेगा। यदि व्यक्ति पैतृक वर्ण के योग्य होगा तो वह उसी व्यवस्था को सम्भाल लेगा। अर्थात् उस व्यक्ति का अपने पिता के व्यवसाय के साधनो पर अधिकार (वह भी सर्वथा सरकारी नियन्त्रण के साथ) रहेगा। यदि व्यक्ति पैतृक वर्ण के योग्य नही बन सकेगा तो उसे सरकार के द्वारा किसी अन्य व्यवसाय के साधनो पर अधिकार दिलवाया जायेगा। स्वामी दयानन्द की समाज व्यवस्था मे वर्ण परिवर्तन की यह बात एक क्रान्तिकारी भावना से ओत-प्रोत है।[1] उपर्युक्त सन्तान-परिवर्तन की बात सम्पत्ति के सर्वथा "राष्ट्रीयकरण" की व्यवस्था से ही सम्भव है।

---

१. प्रश्न— जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो वह दूसरे वर्ण मे प्रविष्ट हो जाय तो उसके मा बाप की सेवा कौन करेगा और वशच्छेदन भी हो जायेगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिए।
उत्तर— न किसी की सेवा का भंग और न वशच्छेदन होगा क्योकि उनको अपने लड़के लड़कियो के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्या सभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेगे। इसलिए कुछ भी अव्वस्था न होगी।

कर्म से, न कि जन्म से

वर्ण व्यवस्था में व्यक्ति को जन्म के आधार पर, व्यवसाय, सम्पत्ति व जाति आदि नहीं मिलते अपितु गुण, कर्म, स्वभाव एवं योग्यता के अनुसार उसे व्यवसाय, सम्पत्ति व जाति आदि सरकारी व्यवस्था के माध्यम से ही उपलब्ध कराये जाते हैं।[1] इससे हर एक व्यक्ति को अर्थोपार्जन का साधन और वह भी अवश्य ही मिलता है। जबकि पूंजीवादी व्यवस्था में जन्म से एक व्यक्ति ब्राह्मण भी होता है, साथ में बहुत सारी उसकी जमीन भी होती है, २–३ दुकानें भी चलाता है, कुछ मकान किराए पर भी चढाए हुए होते है, तो दूसरे व्यक्ति को एक भी काम नही मिल पाता। वह मजबूर होकर पहले वाले व्यक्ति के खेत मे या दुकान से पैसो पर काम

---

१. प्रश्न – भला जो रजवीर्य से शरीर हुआ है वह बदलकर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर — रज वीर्य के योग से ब्राह्मण शरीर नही होता, किन्तु ···· देखो जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट तथा कहीं दोनो श्रेष्ठ या दुष्ट देखने मे आते हैं। इसलिए तुम लोग मे भ्रम मे पड़े हो। ·· जो कोई रज–वीर्य के प्रयोग से ···—····· माने और गुण कर्मो के योग से न माने तो उसे पूछना चाहिए कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज हो गया हो तो उसको भी ब्राह्मण क्यो नही मानते। यहा यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये इसलिए वह "ब्राह्मण" नही है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाव वाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण मे और जो उत्तम वर्णस्थ होगे नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण मे अवश्य गिनना चाहिए। ···· अर्थात् चारो वर्णो मे जिस वर्ण के सदृश जो जो पुरुष व स्त्री हो वह-वह उसी वर्ण मे गिना जावे यह गुण कर्मो से वर्णो की व्यवस्था कन्याओ की सोलहवें वर्ष और पुरुष की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा मे नियत करनी चाहिए। सं० प्र० (४०समु०)

करने को बाध्य हो जाता है। पहले व्यक्ति पर सरकार का कोई भी नियन्त्रण न होने से वह दूसरे व्यक्ति का मनचाहा शोषण करता है। मेहनत दूसरा व्यक्ति करता है जब कि फल पहला व्यक्ति पाता है। दूसरा व्यक्ति कम पैसे मिलने के कारण अपनी मूलभूत आवश्यकताओ, रोटी, कपडा मकान आदि को अच्छी तरह नही जुटा पाता, जबकि पहला व्यक्ति जन्म के आधार पर अपना व्यक्तिगत अधिकार जतलाकर सारे उत्पादन को अपना बना लेता है और अपार धनराशि एकत्र कर के विलासिता करता है।

"वैदिक समाज व्यवस्था" मे ऐसा अन्याय व शोषण नही हो सकेगा। क्योंकि वर्ण व्यवस्था के कारण व्यक्ति को विद्या, रक्षा व्यापार या सेवा मे से एक ही ड्यूटी मिलेगी। उसको अपनी ड्यूटी निभाने के लिए जिन साधनो की अपेक्षा होगी वह सब सरकार द्वारा उपलब्ध कराये जायेंगे। उन साधनो को अपना समझता हुआ पूरी निष्ठा के साथ वह अपने कर्तव्य को निभाएगा, जब कि वस्तुत: वे साधन हमेशा के लिए उसके नही होगे। वे साधन, उसे अपने पुत्र को (यदि वह उसके लायक होगा तब) अन्यथा, किसी अन्य योग्य पुत्र को (जिसकी व्यवस्था सरकार करेगी) देने होगे। जैसे कि आजकल सेना, पुलिस, बैंक, कार्यालयो व शिक्षणालयो आदि मे होता है। जिस प्रकार सैनिक, पुलिस, कार्यालय के कर्मचारी या स्कूल, कालेज के प्राध्यापक प्रयोग मे आने वाले अस्त्र-शस्त्र, कुर्सी, मेज या भवनो को अपना समझकर काम करते है परन्तु सेवा–निवृत्ति के बाद उन पर उनका अधिकार समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार वैश्य लोगो के कर्तव्य के साधन खेत, ट्रैक्टर व कल–कारखाने आदि पर भी सेवानिवृत्ति के बाद उनका अधिकार समाप्त हो जाना चाहिए। ऐसा होने से किसी भी व्यक्ति के पास अनावश्यक पैसा इकठ्ठा नही होगा तथा हरेक व्यक्ति को अर्थोपार्जन का एक साधन अवश्य ही मिल जायेगा। इस प्रकार वर्णो पर राज्य का अंकुश रहने से समाज की आर्थिक व्यवस्था सुन्दर बन जायेगी।

वर्णाश्रम व्यवस्था में योग्यता व रुचियों का भेद—

यहा यह ध्यातव्य है कि वर्णाश्रम–व्यवस्था की पद्धति में सर्वथा साम्य के सिद्धांत को स्वीकार नही किया जाता, क्योकि पूर्ण साम्य मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है।

वेद में इस बात को स्पष्टतया स्वीकारा गया है।[1] वहाँ मनुष्यों की योग्यता, रूचियों, प्रवृत्तियों व कामो के मौलिक भेद को माना गया है। अतः इस मौलिक भेद को ध्यान मे रखकर ही वर्णाश्रम-व्यवस्था मे लोगों को यथायोग्य पारिश्रमिक या दक्षिणा दी जाती है। वेतनमान के अनुपात की भिन्नता के साथ-साथ मान और प्रतिष्ठा के अनुपात की भिन्नता का भी निर्धारण किया जाता है। चारो वर्णो के लोगो को आलम्बन पदार्थ (रोटी, कपड़ा, मकान) प्राप्त करने के लायक पारिश्रमिक अनिवार्यतया मिलेगा। यदि राष्ट्रीय औसतन धन-सम्पत्ति अधिक होगी तभी योग्यता व काम के अनुसार अन्य लोगो को अनुबन्ध पदार्थ (रेडियो, फ्रिज, कार, टैलिविजन, टेलीफोन) आदि के लिए अधिक सम्पत्ति दी जायेगी। यदि राष्ट्र मे अतिरिक्त धन-सम्पत्ति योग्य व्यक्तियो को देने के लिए नही होगी तो उन्हे मान-सम्मान देकर ही उनका गौरव माना जायेगा। ऐसा नही होगा कि योग्य व्यक्तियो को पहले आलम्बन व अनुबन्ध पदार्थ उपलब्ध करा दिये जायें और दूसरी ओर अन्य लोगो को आलम्बन पदार्थ भी नसीब न हो सकें, जैसा कि आजकल हो रहा है। वर्णाश्रम-पद्धति मे लोगो मे पारिश्रमिक का अनुपात देश, काल परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रीय धन सम्पत्ति की औसत को देखकर ही निर्धारित किया जायेगा। वेद मे धन-सम्पत्ति का इस प्रकार सुन्दर विभाजन करने वाले राजा का आह्वान किया गया है।[2]

यदि योग्यता व रूचि आदि के भेद के अनुसार यथोचित पारिश्रमिक या दक्षिणा नही दी जायेगी और "साम्यवादि-व्यवस्था" के अनुसार सब को एक समान ही पारिश्रमिक दिया जाएगा तो समाज मे अनेक दोष उत्पन्न होगे। कठिन परिश्रम से लोग

---

१. समौ चिद्‌स्तौ न समं विविष्टः
सं मातरा चिन्न सम दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि
ज्ञानी चित्सन्तौ न सम पृणीतः॥ (ऋग्० १०.११७ ६)

२. विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। (ऋग्० १.२१.७.)

कतरायेंगे। मन लगाकर काम न करने से उत्पादन कम होने के कारण राष्ट्र की आवश्यकताएं ही पूरी नही होगी। यही कारण है कि रूस में साम्यवाद पूरा नही चल पाया। उन्हें अपने "समानता" के आदर्श से नीचे उतर कर व्यवस्था मे परिवर्तन करना पड़ा। वहा प्रमुख लोगो तथा सर्वसाधारण लोगो की सुविधा व आराम में अन्तर करना पड़ा।

भाग्य (कर्मफल) नहीं, सामाजिक अव्यवस्था –

स्वामी दयानन्द द्वारा अनुमोदित वर्णाश्रम-व्यवस्था मे "भाग्य" को तो माना जाता है, "भग्यवाद" को नही। वर्णाश्रम व्यवस्था मे वर्ण भिन्नता के योग्यता भिन्नता आदि के सभी लोगो की आर्थिक अवस्था बिल्कुल एक जैसी नही होगी। आर्थिक स्थिति के अनुपात मे न्यूनाधिकता के कारण किसी के पास कम तदपेक्षया कुछ अधिक पैसा तो रहेगा ही। परन्तु वह अन्तर किसी को खुलने वाला नही होगा, जैसा कि आज है। लोग अपनी कमाई का ढंग से स्वतन्त्र रूप मे उपभोग कर सकेगे, परन्तु दुरूपयोग नही करेंगे। दुरूपयोग करने पर राजा उसके धन को छीन सकता है। किसी के पास परिश्रम पूर्वक तथा ईमानदारी के साथ कमाने के बाद भी पैसा यदि अधिक जमा हो जाएगा तो वह उसे अपनी इच्छा से राष्ट्र के अच्छे कामो मे लगाएगा, दान देगा। यदि दान न देकर वह उसका दुरुपयोग करने की चेष्टा करता है तो वेद उसके धन को जबरदस्ती अच्छे कामो मे लगवाने का कर्तव्य सरकार को देता है।[1]

इस तरह लोगो को स्वेच्छापूर्वक अपनी कमाई का उपभोग तथा दान आदि करने की स्वतन्त्रता देने से लोगो मे उत्साह, प्रतिस्पर्धा तथा ममत्व की भावना भी रहती है। सब एक दूसरे से अधिक धन का उत्पादन करके उसे अच्छी तरह से लगाने की प्रतिस्पर्धा मे जुट जाते हैं। सभी लोगो के कठोर परिश्रम से राष्ट्र मे किसी भी प्रकार के उत्पादन की कमी नही होती, सभी के पास यथेष्ट धन-सम्पत्ति हो जाने के कारण राष्ट्र मे असमानता, निर्धनता, शोषण व अन्याय का नामोनिशान भी नही रहता। कोई भी व्यक्ति भूखा, नगा व बेसहारा नही रहता और सभी को वेद के अनुसार सौ गुणे सामर्थ्य से कमाने व हजार गुणे सामर्थ्य से दान देने का स्वर्णावसर भी मिल जाता है।[2] इस व्यवस्था के कारण आज कल की तरह ऐसा नही

---

१. सम्राट् आदित्सन्न दापयति ....।
(यजु० ६.२४०, देखें स्वामी भीष्म)

२. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सकिर। अथर्व० ३.२४.५.

होता कि एक व्यक्ति तो करोड़ो रुपये दान देने मे असमर्थ बन जाये और दूसरा व्यक्ति मजबूरी व निर्धनता के कारण एक रूपया भी दान देने मे असमर्थ बना रहे।

वर्णाश्रम व्यवस्था मे कर्मफल के सिद्धान्त को ठुकराया नही गया है। पूर्वजन्म के कर्म व उसके फलो को स्वामी दयानन्द मानते हैं। जैसे जीवो का मनुष्य, अश्व, गौ, हस्ती, सर्प, कीटादि योनियो मे जन्म लेना ही सबसे बड़ा "कर्मफल" है। मानव योनि मे आकर शक्ति, योग्यता व रूचिभिन्नता आदि के कारण व्यक्ति का अतिश्रेष्ठ व अल्पश्रेष्ठ आदि रह जाना, तथा उसके कारण आर्थिकावस्था की न खलने वाली न्यूनाधिकता से उत्पन्न सुख-दुख भिन्नता भी "कर्मफल" ही है। परन्तु प्रभु द्वारा समान रूप से प्रदत्त भौतिक पदार्थो का[1] कुछ व्यक्तियो या प्रशासन द्वारा गलत बंटवारा कर लेना "भाग्य" या "कर्मफल" नही अपितु "सामाजिक अन्याय" है।

सदुपयोगवाद—

हम यहा एक और स्पष्टीकरण करना चाहते है। प्रश्न हो सकता है कि वर्ण-व्यवस्था मे भी जब लोगो के पास अर्थ की न्यूनाधिकता (चाहे वह न खलने वाली हो) होगी तो अधिक अच्छी आर्थिक स्थिति वाला व्यक्ति कुछ साधनो को अधिक रूप मे संचित कर लेगा, जिससे न्यून स्थिति वाला व्यक्ति साधनो के अभाव मे परेशान हो सकता है। परन्तु "वैदिक समाज व्यवस्था" में इसका भी समाधान सन्निहित है। वह है— धन का सदुपयोग व दान। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है— एक बस मे पचास सीटें हैं। एक व्यक्ति शुद्ध कमाई के पैसो के बल पर यदि २५ सीटो की टिकटें खरीद कर अपने कब्जे मे कर लें और वे खाली पडी रहे तथा दूसरी ओर ४६ व्यक्ति शेष २५ सीटो की परिधि में ही रहने को मजबूर कर दिये जायें तो इस स्थिति को कोई भी बुद्धिजीवी नही स्वीकारेगा। ऐसी स्थिति मे एक व्यक्ति

---

१. समानी प्रपा सह वो अन्न भागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥
(अथर्व० ३.३०.६, देखें सायण (भाष्य)

को एक ही सीट देने की बात का सब लोग समर्थन करेंगे। इसी तरह कोई व्यक्ति यदि पैसे के बल पर ५-७ कोठियां बना लेता है और लोगो को सीमेंट, लोहा आदि समान एक कमरा बनाने के लिये भी नही मिल पाता तो इस सामाजिक अव्यवस्था को भी राजा दूर करेगा। यदि उपभोग करने के बाद भी कोई व्यक्ति आवश्यकता से अधिक पैसो या साधनों का दुरुपयोग व व्यर्थ संचय करेगा तो राजा उसे अन्यों को दिलायेगा।

सब प्रकृति का उपभोग सुखपूर्वक करेंगे। भाई-भाई की तरह रहकर एक-दूसरे के दुःख मे काम आयेंगे।[1] अपने "व्रत" को पालन करने के लिये उन सब मे पारस्परिक एक विचित्र सहानुभूति मिलेगी। वे सब अपने बैंक-बैलेंस को अधिक से अधिक बढाने मे ही तत्पर नही होंगे अपितु उसका आवश्यक उपभोग करने के बाद उसे दूसरे की सुख सुविधा मे ही लगाने को लालायित रहेंगे। व्यक्ति अपने सहारे भाई को ही भाई नही समझेगा, अपितु विश्व के किसी भी व्यक्ति का दुःख दर्द उसे अपना ही दु.ख-दर्द महसूस हो। ऐसे पवित्र वातावरण मे न किसी को किसी के शोषण की जरूरत पडेगी, न कही हिंसा होगी और सारा विश्व एक विशाल परिवार के रूप में परिवर्तित हो जायेगा।

उपसंहार—

इस प्रकार हम देखते है कि स्वामी दयानन्द के क्रान्तिकारी आर्थिक-मन्तव्य वर्ण-व्यवस्था की नीव पर आधारित है, इन मन्तव्यो के आधार पर हम विश्व मे सुख शांति का साम्राज्य स्थापित कर सकते है। वर्ण-व्यवस्था पर आधारित यह अद्भुत वैदिक अर्थव्यवस्था साम्यवादी व पूंजी वादी दोनो प्रकार की दूषित व्यवस्थाओं से श्रेष्ठ है। यह व्यवस्था मनुष्यों की स्वभाविक प्रवृत्तियो पर आधारित है और पूर्ण वैज्ञानिक है।

---

१. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
सभ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (ऋग्० ५.६०.५)

वर्ण-व्यवस्था

डॉ० मधु चावला
२५० राजा गार्डन नई दिल्ली—१५

स्वेच्छा से चतुरंग वरण—

समाज को पुरुष कल्पित किए जाने का सर्वप्रथम परिणाम, अपनी-अपनी रूचि के अनुरूप वृत्त वरण कर लेना है। प्रत्येक व्यक्ति, इस बात में स्वतन्त्र है कि वह अज्ञान के दूरीकरणार्थ ज्ञान के केन्द्र 'समाज-पुरुष' का मुख बनना वरण करे, अथवा अन्याय के दूरीकरणार्थ बल और वीर्य का केन्द्र समाज पुरुष की बाहु बनना वरण करे, अथवा अभाव के दूरी करणार्थ अन्न, जल और प्राण के भण्डार समाज पुरुष का उदर बनना वरण करे, अथवा शरीरस्थी महान् रिपुः 'आलस्य' के दूरीकरणार्थ गति स्थिति और तप के केन्द्र समाज-पुरुष के चरण बनना वरण करे।

इस प्रकार सारा समाज चार अंगो मे विभाजित हो जाएगा। 'वरण' से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होगा किन्तु वरणोपरान्त उसके शक्ति और अधिकार मर्यादित हो जाएगे और उस स्वय वृत्त अवयव के अनुरूप कुशलता प्राप्त करना उसके लिए अनिवार्य हो जाएगा। इस अनुबन्ध के आधार वर्णव्यवस्था के तीन मौलिक सिद्धान्त की सृष्टि होती है।

वर्ण-व्यवस्था के तीन मौलिक सिद्धान्त—

(क) कौशल
(ख) शक्ति प्रतिमान
(ग) अधिकार

(क) कौशल—

प्रत्येक मनुष्य सब प्रकार के कार्यों में कुशल नही हो सकता। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति मे कोई न कोई अलौकिक शक्ति निहित है। यदि वह सर्वज्ञ बनने की अपेक्षा उसी अन्तः शक्ति को एकाग्र होकर समुन्नत करने मे लगे तो (उसके द्वारा) समाज के सुख मे निरन्तर वृद्धि हो सकती है। उसे अपने वरण की हुई दिशा में. कौशल प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। समाज के विधान (पर इस मन्त्र) के आधार पर वह लोक-कर्म तीन भागो में बांटा जा सकता है-—

(१) प्राकृत पदार्थो को शारीरिक श्रम तथा बुद्धि कौशल द्वारा मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी बनाकर मानव–समाज की दरिद्रता (अभाव) को दूर करना। इस दिशा मे कौशल प्राप्त करने वाले व्यक्ति का नाम वैश्य होगा।

(२) काम-क्रोध-लोभादि मानव-स्वभाव-सुलभ दुर्बलताओ के कारण होने वाले अन्याय को शासन और दण्ड व्यवस्था द्वारा दूर करना तथा सद्व्यवहार को प्रचलित करना इस दिशा में कौशल प्राप्त करने वाले व्यक्ति का नाम क्षत्रिय होगा।

(३) मानव-समाज के लिए हितकारी, सब प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने मे तथा अज्ञान को नाश मे जीवन लगना। इस दिशा मे कौशल प्राप्त करने वाले व्यक्ति का नाम ब्राह्मण होगा।

सर्वप्रथम यह आवश्यक हैं कि प्रत्येक व्यक्ति इन तीनो मे से किसी विवेष कार्य को सबसे भली प्रकार सम्पादित कर सकता है, इसका सूक्ष्म अन्वेषण स्वय के चिन्तन और विशेषज्ञो के सहयोग से करे। तत्पश्चात अपनी शाखा में समस्त शक्ति को एकाग्र करके अधिक से अधिक कौशल प्राप्त करे।

यह कौशल वैदिक वर्णव्यवस्था का पहला सिद्धान्त है।

(ख) शक्ति प्रतिमान—

इस प्रकार कौशल प्राप्त करने वाले मनुष्यो में, पारस्परिक व्यवहार के नियम भी बनने आवश्यक है। इस विषय को समाज–पुरुष के चतुर्धा विभक्त अवयवमों से समझा दिया गया है। प्रत्येक अवयव की योग्यता, शक्ति और अधिकार-क्षेत्र पृथक्-पृथक् रखे गए हैं, —जिससे समाज मे सन्तुलन बना रहे। उनमे से ज्ञान की खोज और अज्ञान को दूर करना सबसे बड़ा कार्य है, क्योंकि अन्याय के विरुद्ध लडने वाले तथा प्राकृत पदार्थो से सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले शेष दोनों ही ज्ञान के बिना अन्धे है। ज्ञान, इन दोनों को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु ये ज्ञान को उत्पन्न नही कर सकते। (ज्ञान तथा आत्म-सयम के संगम-'समाज-पुरुष' के मुख ब्राह्मण में अध्ययन–अध्यापन, यजन-याजन, अज्ञान–प्रतिकार और ज्ञान-प्रतिपादन इत्यादि की शक्ति निहित कर दी गई है।)

(तदनन्तर दूसरा स्थान, न्याय के स्थापन और अन्याय के दूरीकरण का है। इसके लिए व्यक्ति को बाहु–शक्ति से युक्त किया गया है।) बाहु–शस्त्र धारण और शस्त्र द्वारा अन्याय पर आक्रमण तथा न्याय का संरक्षण दोनो क्षत्रिय मे निहित कर दिये गये हैं। इस सस्था के बिना, समाज पुरुष के मुख, उदर और चरण (ब्राह्मण–

वैश्य-शूद्र) अपने कार्य सम्पन्न न कर पाएगा। राष्ट्र की दण्ड शक्ति के सुव्यवस्थित रहने पर ही इन तीनों की लक्ष्यसिद्धि सम्भव है। उस शक्ति को क्षत्रिय मे निहित कर दिया गया है।

(तृतीय स्थान-अन्न-जलादि जीवन-सुविधाओं के स्थापन और उनके अभाव के दूरी करण का है।) इसके लिए व्यक्ति को अर्थ-संचय के प्रतीक उदर) को नियुक्त कर दिया गया है। अन्न-सचय, अभाव प्रतिकार और भाव-प्रतिपान-शक्ति उदर रूप वैश्य मे निहित कर दी गई है। इस शक्ति के बिना समाज पुरुष की मुख-बाहु-चरण (ब्राह्मण-क्षत्रिय-शूद्र) रूप अंगत्रयी अपने कार्य–सम्पानद मे सक्षम न हो सकेगी राष्ट्रीय अर्थ-शक्ति के सुदृढ होने पर ही वर्णत्रयी का स्वसाध्य सम्पादन सम्भव है। वह अर्थशक्ति वैश्य मे निहित की गई है।)

(ग) अधिकार –

वर्णो का यह शक्ति-प्रतिमान उनके अधिकारो का जनक है (१) विद्याव्यसनी, ज्ञान प्रसारक और सद्भाव-विस्तारक ब्राह्मण वर्ण को समाज ने मुख्यता प्रदान की है– गौरव प्रदान किया है, किन्तु उसे धन-संचय, ऐश्वर्य-विलास तथा राज्य शासन के अधिकार से मुक्त रखा है।

(२) अन्याय–प्रतिकार तथा न्याय-प्रतिपादन मे प्राणों मे आहुति देने वाले व्यक्ति के हाथ मे शासन-व्यवस्था सोपी गई है। उसे प्रमुत्व प्रदान किया गया है और असद्धन्नतथा (सत्प्रतिष्ठापन के द्वारा स्वप्रभाव स्थापित करने का अवसर दिया है) किन्तु आदर उसे विद्याव्यसनियो से न्यून और लक्ष्मी सम्पति–निर्माताओ से अल्प दी गई है।

(३) सम्पत्ति उत्पन्न करने वालों को धन संचय और ऐश्वर्योपभोग का अधिकार दिया है, किन्तु उन्हे विप्रवत् गोरव और क्षात्रवत् प्रमुत्व नही दिया गया। यदि ऐसा न किया जाता तो किसी एक ही वर्ग मे शक्ति के निहित हो जाने से अव्यवस्था, अनुशासन हीनता और अत्याचार प्रवृत्त हो जाते यही उनकी यथायोग्य दक्षिणा है। इसी की प्राप्ति के लिए उन्होने अपने-अपने वर्ण का वरण किया है।

अधिकार–परिभाषा—

किसी पदार्थ को उपयोग में लाने के लिए समाज जिस व्यक्ति को जिस अंश तक स्वतन्त्रता देता है उस अंश तक उसका उस पदार्थ पर अधिकार कहा जाता है। देखना यह है कि अधिकारों का आधार क्या हो? इस विषय में इस समय तक दो पक्ष प्रचलित हैं—

(क) जन्माधिकारवाद
(ख) श्रमाधिकारवाद

जन्माधिकारवाद —

(१) जन्माधिकार वादियों का कहना है कि परमात्मा ने जिस मनुष्य को जिस कुल में जन्म दे दिया है उसे, उस कुल में जन्म लेने के कारण अपने पिता तथा पूर्वजों की सम्पत्ति, सुविधा, अवसर तथा जीवन-साधनों के उपयोग करने का जन्म सिद्ध अधिकार है।

मेरी दृष्टि में वर्तमान युग की सभी विपत्तियों मूल कारण यह जन्माधिकारवाद ही है। उन्नति के दो मूलमन्त्र है— एक 'भय' और दूसरा 'उत्साह'। समाज से 'भय' और 'उत्साह' को समाप्त कर देने के लिये — जन्माधिकारवाद से बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं सोचा जा सकता। विशेषकर भय का तो इसमें सर्वथा लोप ही हो जाता है। यदि सम्पत्तिशाली पिता के पुत्र को यह 'भय' न हो कि दुरुपयोग करने पर उसकी सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है और जन्मना शूद्र को यह उत्साह न हो कि वह योग्यता सम्पादन करके उन्नति प्राप्त कर सकता है-(उच्चतर वर्णाधिकार को पा सकता है) तो समाजिक उन्नति सम्पूर्ण मार्ग अवरूद्ध हो जाता है।

इसलिए 'भय' और उत्साह दोनों का बाधक होने के कारण जन्माधिकारवाद समाज कल्याण का विघातक है। उसके द्वारा संसार का सुखी हो सकना असम्भव है।

श्रमाधिकारवाद—

(२) किसी पदार्थ पर किसी का अधिकार क्यों कर? इस विषय में दूसरा वाद श्रमाधिकारवाद है। श्रमाधिकारवादियों का कथन है कि जिस किसी व्यक्ति ने सम्पति के उत्पन्न करने में श्रम किया है उसका उस पर स्वतः सिद्ध अधिकार है— किन्तु यह बात भी युक्ति की कसौटी पर सर्वथा खरी नहीं उतरती। प्रायः

देखा गया है कि यदि कोई व्यक्ति श्रमोपार्जित सम्पत्ति का दुरपयोग करने लगे तो उसको समाज-विधान ऐसा करने से रोकता है। श्रमाधिकारवादी कहता है— यह मेरी कमाई है इसे जैसे चाहूं फूंकूं। उसका यह कहना ठीक ऐसा ही है जैसे कोई आत्महत्या करने वाने वाला व्यक्ति कहे कि यह शरीर मेरा है, मैं इसे रखूं चाहे फूंकूं। जिस प्रकार आत्महत्या करने वाले को राजनियम के आधीन, अपने अधिकार के दुरुपयोग करने से रोक दिया जाता है उसी प्रकार स्व-श्रमोपार्जित सम्पत्ति के भी दुरुपयोग करने पर उसे रोक दिया जाना चाहिए।

सदुपयोगवाद—

(३) इसके लिए तृतीय सिद्धान्त है—सदुपयोगवाद। किसी सम्पत्ति का अधिकार का आधार सदुपयोग हो। न जन्माधिकारवाद, न श्रमाधिकारवाद, अपितु सदुपयोग-वाद हो इसी सदुपयोगवाद का द्वितीय नाम वर्णव्यवस्था रखा जा सकता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि जन्म अथवा श्रम का योग्यता के निर्णय मे कोई स्थान नहीं इसका अर्थ उल्टे यह जरूर है कि जन्म तथा श्रम भी सदुपयोग की सम्भावना मे सहायक हो। जिस मनुष्य ने आयुर्वेदिक विद्या का अभ्यास किया है और उसके गृह पर कई पीढ़ियों से यह कार्य चला आता है तो उसकी योग्यता के बढ़ने की सम्भावना निःसन्देह अधिक है। और जिस व्यक्ति ने कोई पदार्थ श्रम द्वारा अर्जित किया है उसके द्वारा उसके दुरुपयोग की सम्भावना बहुत कम है। यह सब होते हुए भी उसके अधिकार का आधार 'सदुपयोग' ही है और सदुपयोग की सम्भावना ज्ञान और आत्म सयम के सयोग मे ही है।

सारांश—

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति आत्मबुद्ध होकर समाज पुरुष का मुख-बाहु-ऊरु-पाद मे से कोई एक अंग बनना वरण करे। वह मुख बने तो समाज पुरुष का, बाहु बने तो समाज को ऊरु-उदर बने तो समाज पुरुष का कल्याण सभव है।

वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था एक विश्लेषण

डॉ० त्रिलोक चन्द
अध्यक्ष दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

बड़े ही सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् कर्म के आधार पर वर्ण-निश्चित होता था कि ब्राह्मण की सन्तान क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो जाय। कहने का भाव यह है कि किसी भी वर्ण से आयी सन्तान अपने कर्मों के अनुसार किसी भी अन्य वर्ण की हो सकती थी। शिक्षा-दीक्षा के पश्चात् समान स्वभाव वालों का आपस मे विवाह किया जाता था और फिर वे पति-पत्नी उसी वर्ण के कहलाते थे और फिर उसी कार्य क्षेत्र मे कार्यरत होते थे।

कर्म के आधार पर बनी यह वर्णव्यवस्था बहुत ही लम्बे समय तक सुचारू रूप मे चलती रही। आगे चलकर मानव की संकीर्णताओ, स्वार्थ मोह, आलस्य आदि के कारण इसका ह्रास होना आरम्भ हो गया। उच्च वर्ण के मनुष्यो ने अपनी सन्तानो को भी उच्च वर्ण की रखना चाहा, भले ही वे शूद्र रहे हो। इस प्रकार धीरे-धीरे यह वर्णव्यवस्था कर्म से हट कर जन्म के आधार पर हो गयी। महाभारत काल मे ही वर्णव्यवस्था के पतन के लक्षण स्पष्ट होने लगे थे। गुरू द्रोणाचार्य ने एकलव्य को शिक्षा देने से इसलिए मना कर दिया था क्योकि वह शूद्र कुल मे उत्पन्न हुआ था। आगे चलकर तो शूद्र कुल मे उत्पन्न होने वाले बालकों को शिक्षा से वंचित कर दिया गया क्योंकि वे जन्म के आधार पर ही शूद्र कहलाये जाने लगे। इस प्रकार हम निश्चित रूप मे यह बात कह सकते है कि जन्म के आधार पर वर्णव्यस्था होने से सबसे अधिक हानि शूद्रो को हुई। उनके उत्थान के रास्ते ही बन्द हो गए।

कालान्तर मे वर्णव्यवस्था की और अधिक हानि इसलिए हुई कि पढने-पढाने का प्रचलन धीरे-धीरे कम होता गया और आगे चलकर तो यह समाप्त प्रायः हो गया था। फिर एक समय ऐसा आया जब वर्ण के स्थान पर जाति का प्रयोग होने लगा। जबकि जाति तो सभी मनुष्यो की एक ही मानव जाति है। पतन का यह

सिलसिला यही पर नही रूका बल्कि आगे चल कर इन चार जातियो में से अनेकों जातिया बन गयी। ये सभी जन्म के आधार पर ही मानी जाती रही और आज तक मौजूद है। यद्यपि महर्षि दयानन्द जैसे समाज सुधारक महान पुरुषों ने वर्णव्यवस्था का वैदिक स्वरूप लाने का अथक प्रयास किया परन्तु जातिवाद की जड़े इतनी गहरी और मजबूत हो गयी थी कि उसे पूर्णरूप से जड से न उखाड़ा जा सका। आज भी जाति व्यवस्था बहुत प्रचलित है। यद्यपि शिक्षा और पाश्चात्य प्रभाव के कारण जाति व्यवस्था कुछ हल्की पड़ने लगी है। हमारे देश की सरकार ने भी इसको कम करने के प्रयास किये और इस दिशा में कुछ सफलता भी मिली परन्तु हमारे कुछ कर्णधार जो बाहर से जाति को नकारते है परन्तु भीतर से अपने स्वर्थ के लिए इसे पुष्ट करते रहे। आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि जातिवाद फिर से बढ रहा है।

वर्णव्यवस्था जो कि कर्म के आधार पर रही और जाति व्यवस्था जो पूर्णरूप से जन्म के आधार पर है। ये दोनो आपस मे मेल नही खाती है। वर्णव्यवस्था जहा अपने स्वभावनुकूल कार्य करने का अवसर प्रदान करती थी जिससे राष्ट्र का अधिक से अधिक विकास होता था वहां जाति व्यवस्था मे यह स्वतत्रता नहीं है। जाति व्यवस्था मे तो व्यक्ति कार्य करने मे परतन्त्र था। उसका नाम और काम उसकी जाति के ही आधार पर था, चाहे वह उसके योग्य था या नही। इससे भिन्न-भिन्न कार्य क्षेत्रों मे योग्यतम मनुष्यो का आना ही बहुत कम हो गया क्योकि स्वभाव के प्रतिकूल होने पर भी अपनी जाति के आधार पर ही कार्य करना पड़ा जिससे उसकी मूल योग्यताओ का उपयोग न हो सका। शूद्र कुल से आने वाली योग्यताओ का तो रास्ता ही बन्द हो गया। कालान्तर मे तो शूद्रों पर जो अत्याचार किये गये उनको जानकर भी हृदय काप उठता है। सारा समाज जातियों मे खण्डित होकर रह गया। अधिकतर लोग राष्ट्र की परवाह न करके अपनी-अपनी जाति के बारे मे ही विचार करने लगे। कालान्तर मे तो दूसरी जाति के प्रति उदासीनता ही नही बल्कि घृणा का भाव भी कहीं-कहीं होने लगा था। लोग अपने विवाह आदि सम्बध अपनी ही जाति मे करने लगे थे और आज भी करते हैं इस प्रकार समूचा राष्ट्र जाति के कारण विघटित

होकर कमजोर होता गया और इतना पतित हुआ जाति भारत की परतन्त्रता का एक मुख्य कारण सिद्ध हुई। जाति व्यवस्था मे न कि सबके उत्थान की क्षमता थी और न ही रूचि के अनुसार कार्य अपना कर अपने और राष्ट्र के उत्थान की कोई योग्यता थी। यद्यपि आजकल यह स्वतन्त्रता है कि मनुष्य जो उचित समझे, उसे अच्छा लगे और अवसर मिले वह यही कार्य कर सकता है परन्तु उसकी जाति जन्म के आधर पर ही मानी जाती है। अधिकतर मनुष्य नाम के साथ ही जाति बोधक शब्द लगाते हैं।

विद्वानों, समाज के कर्णधारों, बुद्धिजीवियों आदि सभी का यह कर्तव्य है कि जन्म के आधार पर जाति व्यवस्था के निराकरण में अपना सहयोग देवें।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार

डॉ० (कु०) सुषमा
६०, द्वारिकापुरी
संस्कृत विभाग एस०डी० का० मु०नगर २५१००१

संस्कृत वाङ्मय मे वर्ण शब्द रग (रोगन), रूप, वंश, शब्द, ख्याति, प्रशसा, वेषभूषा, छवि, चादर, आवरण, कुमगीत, हाथी की झूल, गुण-धर्म, धर्मानुष्ठान और अज्ञात राशि अर्थों मे प्रयुक्त होता है।[1] अमरकोश मे वर्ण शब्द द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शुक्ल आदि रग स्तुति और अक्षरों के अर्थ में लिया गया है।[2] वही एक अन्य स्थल पर कुछ के लिए वर्ण शब्द के प्रयोग का सकेत किया गया है।[3] किन्तु इस अर्थ में यह प्रयोग अनेक रंगों के वस्त्र के सयोजन के कारण हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। व्याकरण के अनुसार वर्ण शब्द की रचना वर्ण धातु से घञ् प्रत्यय करके होती है। पाणिनि कृत धातु पाठ के अनुसार वर्ण धातु प्रेरणार्थक है। इस आधार पर वर्ण शब्द के विविध अर्थो मे मूल अर्थ खोजने का प्रयत्न किया जाए, तो ऐसा लगता है कि रग अपने रूप के करण नेत्रेन्द्रिय के माध्यम से चित्त को आकर्षित करते हुए प्रेरित करता है। ख्याति (स्तुति) व्यक्ति के चारित्रिक गुणो की ओर इगित करती हुई जनसामान्य को विशिष्ट आदर्शमय जीवन-यापन करने की प्रेरणा देती है और अक्षर भाषा के प्रतिनिधि होकर विचारो को प्रेरित करते है। इसलिए वर्ण शब्द के उपर्युक्त तीन अर्थ ही मुख्य होने चाहिए। आवरण छिपी हुई वस्तु को देखने की उत्सुकता उत्पन्न करके प्रेरणा का हेतु बनता है, अतः उसे भी मूल अर्थों मे सम्मिलित किया जा सकता है।

जहां तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र अर्थो मे वर्ण शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, हमे विचार करना होगा कि ये किस रूप मे प्रेरणा के स्रोत हो सकते है। ब्राह्मण, क्षत्रिय वर्ण आदि शब्दो का प्रयोग मनुष्यो के वर्ग विशेष के लिए होता। है

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, पृ० ६०१

२. वर्णो छिजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे। अमर कोश, ३/३/६७

३. प्रवेण्यास्तरण वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयो.। अमरकोश- २/३/४२

इस प्रयोग के मूल है क्या हेतु है, यह प्रश्न ही प्रस्तुत गोष्ठी मे विचारणीय विषय है। वर्तमान समाज मे ब्राह्म आदि वर्ग कुल विशेष मे जन्म लेने के कारण माने हैं। परन्तु एक अन्य विचारधारा के अनुसार कर्मविशेष के आधार पर वर्ग विशेष को ब्राह्मण आदि शब्दों से इगित किया जाना चाहिए। इन दोनो पक्षो मे प्रेरणार्थक वर्ण शब्द की सगति है या नही ? इस प्रश्न का उत्तर ही वर्णव्यस्था मे वर्ण शब्द के अर्थ का निर्णायक हो सकता है। समाज के वर्ग कुलविशेष के आधार पर किसी भी प्रकार की प्रेरणा देते है, ऐसा मुझे नही लगता। इसके विपरीत कुल-विशेष मे जन्म लेने के कारण कर्तव्यो की चिन्ता किये बिना आदर, सम्मान आदि प्राप्तव्यो के प्रति स्वत. पात्रता मानने से कर्तव्य-पालन के प्रति शिथिलता की सम्भावना अवश्य होती है। अत: कुल-परम्परा से वर्ण-व्यवस्था मानना हमे वर्ण शब्द के मूल अर्थ मे संगत प्रतीत नही होता। इसके विपरीत कर्मविशेष अथवा गुण–कर्म स्वभाव के अनुसार की गयी वर्ण-व्यवस्था निश्चित ही प्रेरणादायक होगी। वर्ण विशेष के वाचक ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य और शूद्र शब्दो का प्रयोग हमे सर्वप्रथम ऋग्वेद और यजुर्वेद के पुरुष–सूक्तो के मन्त्र मे मिलता है।[1]

मन्त्र मे 'अजायत' क्रिया को देखकर कुछ लोग मुख, बाहु आदि से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्गो की उत्पत्ति की कल्पना करते हैं। वह (कल्पना) न केवल अस्वा–भाविक हैं, अपितु मन्त्र के अभिप्राय से भी विपरीत है। अजायत क्रिया से पूर्व इस मे दो और क्रियाएं हैं। इनमे प्रथम क्रिया है 'आसीत', जिसका अर्थ भूतकाल मे अथवा भूतकाल से सत्ता का होना है। इससे ब्राह्मण का चिरकाल से मुख होना सूचित होता है। ब्राह्मण मुख किसका था ? कोई वर्गविशेष किसी प्राणी का अग विशेष-मुख-नही हो सकता। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण को किसी व्यक्ति का अग–विशेष निश्चय ही नही कहा गया है। हा, उसे किसी समाज या समूह का मुख माना जा सकता है। मुख शब्द का प्रयोग बोलने वाले अथवा निर्देश देने वाले अग के

---

१. (क) ऋग्वेद १०/६०/१२
(ख) यजुर्वेद, ३१/११

लिए प्राय होता है। क्योंकि निर्देश (प्रेरणा और आदेश) मुख्य रूप से मुख से ही दिया जाता है, हाथ आदि की चेष्टाए इसमे सहायक तो हो सकती है, परन्तु इस प्रसग मे उन्हे प्रधानता नही दी जा सकती। इस आधार पर हम कल्पना कर सकते है कि जो व्यक्ति या वर्ग समाज का निर्देशक और पथ-प्रदर्शक रहा है, उसे ही इस मन्त्र मे ब्राह्मण के रूप मे इगित किया गया है।

विविध आघात-प्रतिघातों से शरीर की सुरक्षा का कार्य बाहुओ द्वारा सम्पन्न होता है। यहा 'कृत.' क्रिया का प्रयोग रक्षा काउ त्तरदायित्व सौपना इस अर्थको सूचित करता। इसलिए भी समाज की रक्षा करने वाले, पीडाहारी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष के लिए राजन्य (क्षत्रिय) शब्द का प्रयोग तर्कसंगत प्रतीत होता है। यही स्थिति उदरपूर्ति के लिए सामग्री जुटाने वाले वैश्य की है।

उपर्युक्त मन्त्र मे 'अजायत' क्रिया प्रयोग केवल शूद्र के प्रसग मे हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रो की उत्पत्ति बारम्बार होती रही है। यहा प्रश्न होता है कि 'होना' और 'उत्पन्न होना' इन दोनों क्रियाओं में मूलभूत अन्तर क्या है ? 'होना' क्रिया सत्ता या स्थिति के सातत्य को सूचित करती है, 'जबकि उत्पन्न होना' पद सत्ता की आकस्मिक उपलब्धि को बोधित करता है इस आधार पर मैं कहना चाहूगी कि ब्राह्मण आदि वर्गो मे अपने-अपने कर्तव्यो के प्रति निष्ठा प्राय सतत रही है। परन्तु इन्ही वर्गो में से एक आध व्यक्ति मे अपने कर्तव्य-पालन की क्षमता का अभाव भी दृष्टिगत होता है। ऐसी स्थिति में उन्हे न तो विशिष्ट कर्तव्य-निर्वाह के लिए उत्तरदायी माना जा सकता था, जिससे उन्हे स्वतत्रता पूर्वक कार्य करने का उत्तरदायित्व सौपा जा सके और न ही आयोग्य मानकर समस्त कार्यो से अलग करना उचित माना जा सकता था। इसलिए उनके सामर्थ्य और श्रम का उपयोग करने के उन्हे ब्राह्मण आदि का सहायक बनाया जाता रहा है अर्थात् उनके (ब्राह्मण आदि के) पूर्ण निर्देशन में किसी कार्य के सम्पादन में उन्हे लगाया जाता रहा है। इस प्रकार योग्यता के अभाववश उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य न सौपने के कारण ही उन्हे शूद्र वर्ग मे रखा गया है। इस वर्ग में ब्राह्मण आदि वर्गो से व्यक्ति का प्रवेश उसकी अक्षमता

के कारण समय-समय पर होता रहता है। इसलिए 'अजायत' क्रिया का प्रयोग शूद्र वर्ग मे कुल परम्परागत निरन्तरता का निषेध करता प्रतीत होता है, अर्थात् शूद्र वर्ग की कोई कुल परम्परा नही रही है। उसकी सन्तति को इस वर्ग का सदस्य स्वभावतः नही माना जाता रहा है। योग्यता अर्थात् कार्य-सम्पादन मे अक्षमता की स्थिति मे भले ही शूद्र की कोई सन्तान इस वर्ग मे रह जाए।

उपनिषदे भी वर्ण-व्यवस्था के प्रसग मे गुण-कर्म-स्वभाव को ही महत्व देती प्रतित होती है। इसी कारण छान्दोग्योपनिषद् मे अध्ययन के विषय मे वेदो सहित अनेक विद्याओ के साथ ब्रह्मविद्या और क्षत्रविद्या का नामत परिगणन किया गया है।[1] विद्याओ के ये दोनों नाम ब्राह्मण और क्षत्रियो के गुण-कर्म से सम्बन्धित होने का ही संकेत देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी के प्रश्न का अन्तर देते हुए याज्ञवल्य स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मविषयक ज्ञान को प्राप्त करके ही ब्राह्मण अपने जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करता है।[2] इसलिए एक अन्य प्रसग मे वही कहा गया है कि ब्राह्मण उस परमतत्त्व को जान कर प्रज्ञावान् बने।[3] तत्त्वज्ञान ब्राह्मण का सबसे मुख्य गुण होता। तत्त्वज्ञान के कारण उसके हृदय के सर्वविध सशय मिट जाते है और वह इतना प्रामाणिक हो जाता है कि उसका जीवन ही आदर्श बन जाता है। इसी कारण तैत्तिरीय उपनिषद् में स्नातक को दीक्षान्त उपदेश देते हुए कहा गया है कि तुम्हे जीवन मे जब भी कभी कर्तव्याकर्तव्य विषयक अथवा आदर्शचरित्रविषयक विचिकित्सा हो, उस समय तुम्हे श्रेष्ट ब्राह्मणो के पास जाकर

---

१. (क) अध्येमि · देवविद्याम् ब्रह्मविद्याम् भूतविद्याम् क्षत्रविद्याम्।
छन्दोग्योपनिषद् ७/१/२

(ख) विज्ञानेन वै ऋग्वेद विजानाति······ देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्याम् नक्षत्रविद्याम् ~····। छान्दोग्योपनिषद्, ७/७/१

२. अथ य एतदक्षर गार्गी विदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मण.।
बृहदारण्यक उपनिषद्, ३/८/१०

३. तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत ब्राह्मण·।
बृहदारण्यक उपनिषद्, ४/४/२१

बैठना चाहिए और उनके जीवन का अवलोकन करना चाहिए। वे जीवन मे जैसा व्यवहार करते हो, तुम उसे प्रामाणिक मानो और वैसा ही आचरण करो।[1] वृहदारण्यक उपनिषद् मे भी ब्राह्मण को सर्वविध संदेहो से रहित होने के कारण समस्त पापो और राजसिक विकारो रहित माना गया है।[2]

वर्ण—व्यवस्था मे गुण-कर्म-स्वभाव के महत्त्व को समझते हुए ही शिखा-सूत्र (यज्ञोपवीत) रहित सन्यासी के लिए भी ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस तथ्य की पुष्टि जाबाल उपनिषद् से होती है। जहा महर्षि अत्रि के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते है—यत. सन्यासी यज्ञोपवीत के अभाव मे भी शुचि (पवित्र) अद्रोही, रागद्वेष आदि से रहित और भिक्षाजीवी होता है, अतः उसे ब्राह्मण ही माना जाता है।[3] किसी को ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय केवल विद्वावान् होने से ही नही कहा जाता, जबतक वह विद्या उसके स्वभाव का अग न बन जाए, उसका गुण न बन जाए। इस रहस्य को वृहदारण्यक उपनिषद् मे अत्यन्त सहजभाव से प्रकट करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण को चाहिए कि वह पाण्डित्य को नि शेष कर, पूर्णविद्वान् होकर, सरलता से निरभिमान होकर बालभाव से जीवन जीने की इच्छा करे। जब सरलता रूप बालभाव और पाण्डित्य जीवन मे प्रतिष्ठित हो जाए, तो वह मुनिभाव को अपनाने का प्रयत्न करे। जीवन मे मुनिभाव के प्रतिष्ठित हो जान

---

१. ये के च अस्मच्छ्रेयासो ब्राह्मणाः। तेषां त्वया आसनेने प्रश्वसितव्यम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणा. समर्शिन.।····· यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथा.। अथाम्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः समर्शिनः।····· धर्मकामा· स्युः। यथा ते तेषु वर्त्तेरन् तथा तेषु वर्त्तेथाः। तैत्तिरीयोपनिषद् १/११/३-५

२. विपापो विरजो अविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति।- वृहदारण्यक उपनिषद्, ४/४/२३

३. अथ ह एनमत्ति पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्···अयज्ञोपवीती कथ ब्राह्मण स होवाच ····· शुचिरद्रोही भैक्षणो ब्रह्मभूयाय भवति। जाबाला उपनिषद्—५

पर वह पूर्ण ब्राह्मण बनता है। इसके बिना किसी को ब्राह्मण समझना आर्त अर्थात् कष्ट कर है।[1] ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों मे गुण-कर्म-स्वभाव की महत्ता होने के कारण ही शरीर की रक्षा करने वाले प्राणों को भी क्षत्र (क्षत्रिय) कहा जाता है।[2]

वाधूल स्मृति मे गुणकर्म स्वभाव के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की स्वीकृति का सकेत बहुत स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। वहा कहा गया है कि शान्त स्वभाव वाला, मन को वश मे रखने वाला, क्रोध के वश मे न होने वाला, आत्मजयी और जितेन्द्रिय श्रेष्ठ व्यक्ति शूद्र ही होता है—

शान्त, दान्त जितक्रोध जितात्मान जितेन्द्रियम्।
तमग्रय ब्राह्मणं मन्ये शेषा. शूद्र. प्रकीर्तिता ॥[3]

लघु आश्वलायन स्मृति मे यह स्वीकार किया गया है कि किसी भी कुल मे उत्पन्न व्यक्ति यदि अपने कर्म का परित्याग कर देता है पराधीन वृत्ति होकर जीता है, वह व्यक्ति अधीतविद्य होता हुआ भी शूद्र के समान हो जाता है। इसी प्रकार जो द्विज वेदो का अध्ययन न करके अन्यत्र परिश्रम करता है, वह श्रेष्ठ कुल मे उत्पन्न होकर भी कुलसहित शूद्र हो जाता है—

यश्च कर्मपरित्यागी पराधीनस्तथैव च।
अधीतोऽपि द्विजश्चैव स च शूद्रसमो भवेत् ॥
अनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय. ॥[4]

---

१ तस्माद् ब्राह्मण पाण्डित्य निर्विध बाल्येन तिष्ठातेत्। बाल्य च पाण्डित्य च निर्विद्य अथ मुनिरमौन च मौन च निर्विद्य अथ ब्रामह्णः। अतोऽन्यदत्तिम्। बृहदारण्यक उपनिषद्, ३/५/१

२. क्षत्र प्राणो वै क्षत्र प्राणो हि वै क्षत्र त्रायते ह एन प्राणः क्षणितोः प्रक्षत्रमत्रमाप्नोति।— बृहदारण्यक उपनिषद्, ५/१३/४

३. वाधुल स्मृति, १६३½, पृ० स० २६४१।

४. लघु आश्वलायन स्मृति, २२/२२-२३

यहां पूर्व पद्य मे द्विज को विद्यावान् होते हुए भी कर्मपरित्यागी होने से शूद्र के समान होने की बात कही गयी है, जब कि द्वितीय पद्य मे विद्या का अभाव होने पर उसका पूर्णत शूद्र होना स्वीकार किया गया है।

इसी प्रकार वाधूल स्मृति मे कहा गया है कि अन्य गुणो के होते हुए भी गृहस्थ ब्राह्मण यदि यज्ञ-यागादि नही करता, तो वह ब्राह्मण नही रह जाता पतित हो जाता है—

कृतदारो न वै तिष्ठेत् क्षणमप्यग्निना विना।
तिष्ठेत चेद्द्विजो ब्राह्म त्यक्त्वा तु पतितो भवेत्॥[1]

इसी स्मृति मे एक अन्य स्थल पर यह भी कहा गया है कि जो विप्र मोहवश विधिपूर्वक देवाराधन नही करता अर्थात् सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र आदि नहीं करता न ही बलिवैश्वदेव यज्ञ करता है, वह निश्चय ही शूद्र हो जाता है—

देवताराधन चैव वैश्वदेव यथाविधि.।
न कुर्याद्यदि मोहेन स चण्डालो न संशय॥[2]

कपिल स्मृति के अनुसार तीन अथवा चार बार हिरण्यगर्भ दान करने से शूद्र मौञ्जीबन्धन अर्थात् यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकारी हो जाता है और यज्ञोपवीत धारण करने के अनन्तर वह पूर्ण ब्राह्मण हो जाता है—

हिरण्यगर्भत्रितयदानमात्रेण तत्क्षणात्।
हिरण्यगर्भदानस्य चतुर्वारकृतस्य तु।
महिम्ना वृषलस्यापि मौञ्ज्यामधिकृतिर्भवेत्॥
ततोऽपि कृतया मौञ्ज्या शूद्रो ब्राह्मण्यमृच्छति।[3]

कपिलस्मृतिकार की यह भी मान्यता है कि श्रेष्ठ ब्राह्मण किसी भी व्यक्ति के गुण-कर्म स्वभाव को देखकर यह निर्धारित करता है कि वह अमुक वर्णविशेष का है, जिसके फलस्वरूप अतिशय हीन कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी उच्च वर्ण का अंग (सदस्य) हो जाता है—

---

१. वाधूलस्मृति, १५३, पृ० २६३७।
२ वाधूल स्मृति, २२४, पृ० २६४४।
३. कपिलस्मृति ८८३½, ८६६-८६७½

अकर्तुमन्यथाकर्तुं कर्तुं सर्वं विचक्षणः ।
दुर्वर्णानपि सद्वर्णानिवशात् कुरुते क्षणात् ॥[1]

कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के प्रसग मे आचार्य मनु का वह वचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जहा उन्होने व्यवस्था दी है कि गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार किसी भी वर्ण मे परिगणित होने के बाद भी व्यक्ति यदि उस वर्ण के अनुकूल कर्मो का आचरण नही करता है, तो वह न केवल दास अर्थात् शूद्र हो जाता है, अपितु उसे एक प्रकार से दण्ड के रूप मे शत्रुओ का दास होना पड़ता —

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि ।
पापान्सम्रृत्य ससारान्प्रेष्यता यान्ति (दस्युषु) शत्रु ॥[2]

महाभारत के शान्तिपर्व में सत्य, दान, अद्रोह, क्रूरता का अभाव (दया), त्रपा, अघृणा (प्रेम) और तप आदि गुण जिन लोगो मे प्रतिष्ठत है, उन्हें ब्राह्मण कहा गया है —

सत्यं दाममथाद्रोह आनृशंस्य त्रपा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृत ।[3]

इस पद्य मे 'दृश्यते' और 'स्मृत' क्रियाए स्पष्ट रूप से सूचित करती है कि कि उपर्युक्त गुणो को देखकर ही कुछ विशिष्ट लोगों के लिए ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है, जन्म के कारण नही ।

इसी प्रकार जिन लोगो मे युद्ध आदि की प्रवृत्ति, वेदाध्ययन के प्रति अनुराग, जनसामान्य से कर लेने तथा ब्राह्मण आदि को दान देने की प्रवृत्ति है, उन्हें क्षत्रिय कहा जाता है —

क्षत्रज सेवते कर्म वेदाध्ययनसगत. ।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्चते ॥[4]

---

१ कपिलस्मृति ८८२
२. मनुस्मृति १२/७०
३. महाभारतशान्तिपर्व, १८६/४
४. महाभारत शान्तिपर्व, १८६/५

यहाँ सेवते सगतः, रतिः और उच्यते पद स्पष्ट संकेत करते हैं कि उपर्युक्त गुणों अथवा स्वभाव के कारण ही किसी व्यक्ति को क्षत्रिय माना जाता रहा है।

इसी प्रकार वेदाध्ययन की अभिरुचि के साथ-साथ जिन लोगों में वाणिज्य, पशुरक्षा, कृषि आदि के माध्यम से धनसग्रह की प्रवृत्ति विद्यमान है, उनकी वैश्य सज्ञा होती है—

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति सज्ञितः ।।[1]

इस पद्य में भी रति सम्पन्नः और सज्ञित पद सूचित करते है कि कुछ विशेष गुणों के कारण ही कुछ लोगो की वैश्य सज्ञा होती रही है। इसी पद्य में शुचि पद स्पष्ट रूप से स्वभाव का ही बोधक है, जिसका सम्बन्ध कुल विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता।

इसके विपरीत जो लोग सर्वविध उचित-अनुचित भोजन मे रुचि रखते है, जिनको सद-सद् कर्म की चिन्ता नहीं है, शुचिता का ध्यान नहीं है, जिन्होने वेदाध्ययन छोड रखा है और और स्वभाव से अनाचारी है, वे शूद्र माने जाते है—

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ।।[2]

शूद्र की परिभाषाभूत इस पद्य में सर्वभक्षरति, सर्वकर्मकरः अशुचिः, त्यक्तवेदः और अनाचारः पद व्यक्ति विशेष के स्वभाव को ही सूचित करते है।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ।[3]

महाभारतकार का यह भी मानना है कि पूर्वकाल में समाज का ब्राह्मण आदि वर्गों में विभाजन था ही नहीं। सभी सात्त्विक प्रकृति के थे, सूर्य के समान तेजस्वी थे और ब्रह्मा के पुत्र होने के कारण ब्राह्मण कहे जाते थे। परन्तु कलान्तर में समाज में कुछ लोग काम आदि भोगों के प्रति आसक्त हो गये, तीक्ष्णता और क्रोध उनका

१ महाभारतशान्तिपर्व, १८९/६
२. महाभारतशान्तिपर्व, १८९/७
३ महाभारतशान्तिपर्व, १८९/८

स्वभाव बनने लगा, वे अपने मूल धर्म को भूलने लगे, राग सम्पन्न हो गये, ऐसे लोगो को क्षत्रिय कहा जाने लगा। जो लोग अपने मूलधर्मो को छोडकर गोपालन, कृषि आदि से धन सग्रह मे जुट गये, वे वैश्य कहलाये तथा जो हिंसा, असत्य और लोभ आदि से ग्रस्त होकर उचित-अनुचित सभी प्रकार के कर्म करने लग गये, जिनकी शुचिता नष्ट हो गयी, वे शूद्र मान लिये गये। इस प्रकार समाज के वे वर्ग कर्मो के कारण ही बने। कर्मो के कारण ही उनके वर्णो (रगो) मे भी कुछ परिवर्तन आ गया। फलतः इन वर्गो को ब्राह्मण आदि वर्णो की सज्ञा दी गयी।[1]

महाकवि कालिदास ने रघुवश गत इन्दुमति स्वयवर के प्रसग मे सुनन्दा द्वारा मगधराज परतप का वर्णन कराते हुए 'राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्ण॰' वाक्य मे कर्म से वर्ण की प्राप्ति की ओर सकेत किया है।

बौद्धपरम्परा मे श्रीमद्भगवद्गीता के समान प्रतिष्ठित धम्मपद मे भी यह माना गया है कि जन्म, गोत्र अथवा वंश से कोई व्यक्ति ब्राह्मण नही होता। जिसमे सत्य, धर्म और शुचिता गुण विद्यमान हैं, वही ब्राह्मण होता है।[3] इस ग्रन्थ मे ब्राह्मण के गुणो का वर्णन ४१ श्लोकों में हुआ है। उनके अनुसार जिनमे मन, वचन और कर्म से दुष्कृत का अभाव है और सयम की प्रतिष्ठा है, वह ब्राह्मण है।[4] ब्राह्मण स्थिर बुद्धि, मेधावी, मार्ग और अमार्ग को जानने वाला तथा प्रशस्त धर्म का अनुष्ठाता होता है।[5] ब्राह्मण व्रती, क्रोधहीन, शीलवान् विद्वान, जितेन्द्रिय और मोक्षमार्ग का पथिक होता है।[6] रागद्वेष, दम्भ और दुरभिमान आदि दुर्गुण उसमे होते है[7] इत्यादि।

---

१ महाभारत शान्तिपर्व १८८/१, १०-१४   २ रघुवश ६/२१

३. न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुखी सो च ब्राह्मणो ॥ धम्मपद, ३९३
[न जटामिर्न गोत्रेण न जात्या भवति ब्राह्मण ।
यस्मिन् सत्य च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मण ॥]

४. धम्मपद, ३९१   ५. धम्मपद, ४०३

६. धम्मपद, ४००

७. यस्स रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ धम्मपद, ४०७
[यस्य रागश्च द्वेषश्च मानो भ्रक्षश्च पातितः ।
सर्षप इवाराग्रात् तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥]

इस प्रकार हम देखते है कि इन सभी प्रसगो मे ब्राह्मण आदि के गुण-कर्म स्वभाव का ही वर्णन हुआ है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते है कि समाज के सगठन मे वर्ण-व्यवस्था का होना अनिवार्य है और यह वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म और स्वभाव के आधार पर प्रारम्भ की गयी थी और आज भी गुण कर्म स्वभाव के आधार पर समाज मे उपयोगी हो सकती है। कुल-परम्परा गत सस्कार भले ही गुण-कर्म और स्वभाव के निर्माण मे और व्यवसाय को अपनाने मे सहयोगी के रूप मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हो, फिर भी कुलपरम्परा के आधार पर वर्ण व्यवस्था को स्वीकार करना किसी के लिए प्रेरणा का स्रोत नही हो सकती, अत उस वर्गीकरण को वर्ण-व्यवस्था कहा जाना भी उचित नही हो सकता।

"वैदिक वर्ण व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार"

डॉ० जे०एस० मलिक

परियोजना अधिकारी

प्रौढ़, सतत शिक्षा एवं प्रसार विभाग, गु०का०वि०वि०, हरिद्वार

वर्ण व्यवस्था को भारत के इतिहास मे प्रमुख स्थान प्राप्त है। वर्ण व्यवस्था समाज का एक ऐसा वैज्ञानिक आधार है जो वैदिक काल से लेकर आज तक सम्पूर्ण भारत मे विद्यमान है भले ही इस समय समाज विभिन्न जातियो एव प्रजातियो मे विभक्त हो गया है, लेकिन वर्ण व्यवस्था की सरचना एव वैदिक आश्रम व्यवस्था का स्वरूप अभी भी हमारे सम्मुख स्थित है। समाज मे कम तत्व सदियो से विद्यमान रहे है जैसे रग, भेद, ऊच–नीच, धर्म, मर्यादाए तथा गुण कर्म आदि। इन सबके कारण समाज का विभाजन अनिवार्य रहा होगा। प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे समाज "आय" तथा 'दास' वर्ग मे विभाजित था।[1] ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल मे त्वचा को भेद परक आधार माना गया है। इसीलिये भी आर्य तथा दास मे भेद का अवलोकन होता है। 'आर्य' तथा 'दास' के सघर्ष का वर्णन ही मिलता है।[2] दास को अव्रत, मृधवाच, अनास तथा अक्रतु कहा गया है अर्थात देवताओ की आज्ञा को अस्वीकार करने वाला, कटुवाणी वाला, चपटी नाक वाला तथा यज्ञ न करने वाला। आर्यो को सदाचरण एव सदवृत्तियो को अपनाने वाला बताया गया। इस प्रकार पूर्व वैदिक काल मे रक्तगत, शरीरगत तथा सस्कारगत प्रजातीय भेद रहा। इसीलिये दोनो वर्गो का अस्तित्व अलग-अलग बना रहा। परस्पर विचारो, निदिष्ट कार्यो और अधिकारो के सघर्ष ने समाज को एक ऐसी चुनौती दी जिसके कारण समाज का विभाजन करना अनिवार्य हो गया तथा समाज के विभाजन का वैज्ञानिक आधार तैयार किया गया, जो कर्म व गुण के आधार को पुष्ट करता है।

---

१. ऋग्वेद २.२.४. यो दास वर्ण मद्यरक:

२. ऋग्वेद १.१७६.६, ३.३४.६

इस प्रकार वर्णो के नैतिक नियम समाज को कर्तव्य परायणता में बांधते है। भारतीय वर्ण व्यवस्था सामाजिक वर्गो की महत्ता और उनके कर्मो की प्रतिष्ठा से सम्बद्ध है। इससे व्यक्ति का बहुमुखी विकास एवं उत्थान सुरक्षित है। अपने वर्ण के कर्मानुसार तथा पुर्नजन्मो के आधार पर मनुष्य अपने सस्कारो को पुष्ट बनाता है। मानव जाति मे समानता होते हुए गुण कर्म मे अन्तर निहीत है तथा वर्णो मे विभाजित होने पर आपस मे गहरा सम्बन्ध भी है।

वर्ण–व्यवस्था की वैज्ञानिकता कर्म थी, न कि वंश से क्योकि जब मनुष्य वर्णानुसार कर्म न करता था वह उस वर्ण से पतित कर कर्मानुसार एव गुण-धम के आधार पर अन्य वर्ण मे स्थापित कर दिया जाता था। मनुष्य का मान जन्म स न हाकर कम स था। सुधारवादी आज भी मनुष्यो के कर्म एव गुण के आधार पर ही मनुष्य का मूल्याकन करते है तथा उनके कतव्यो को स्वीकार करते है। इसी कम प्रधान चिन्तन के कारण स्वाभाविक विकास एव गति थी, जो मनुष्य की उन्नति को सुनिश्चित करती थी तथा उसको अग्रसर होने मे मार्ग प्रशस्त करती थी।

ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भ मे ऐसी पुष्ट वर्ण व्यवस्था नही थी जो उत्तर वैदिक काल मे स्थापित हो गयी थी। प्रारम्भ मे समाज के दो समूह ही अस्तित्व म थे आर्य तथा अनार्य। इन दोनो समूहो मे शरीर रचना, रग तथा आचार-विचार म काफी अन्तर विद्यमान था। आर्य गौर वर्ण, ऊचे कद, उन्नत नासिका और आकर्षणयुक्त व्यक्ति व्यक्तित्व तथा अनार्य कृष्ण वर्ण अनुन्नत नासिका (चपटी) तथा अनाकर्षित व्यक्तित्व वाले थे। इन दोनो वर्गो के धार्मिक और सास्कृतिक कार्यो मे भी अन्तर था। इसलिए अनार्यो को अनास [बिना नाक वाला] अव्रत [व्रत न करने वाला], अक्रतु [यज्ञ न करने वाला], अब्रहमन [पूजा न करने वाला] अदेवयु [देवत ओ के प्रति अनासक्त] अक्रमण [कमहीन] अयज्ञ [यज्ञ न करने वाले] अन्यव्रत [व्रत न रखने वाले] देवभिषु [देवताओ को अपशब्द कहने वाले] कृष्ण योनि आदि शब्दो से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार प्रारम्भिक काल मे समाज इन्ही दो वर्गो मे चल रहा था, इसी बीच आर्यो का समाज कार्यो, गुण, रग एव धर्म के कारण वर्गीकृत होने लगा।

आर्यो के समाज मे प्रारम्भ मे दो वर्ण स्थापित किये गये-प्रथम ब्राह्मण द्वितीय क्षत्रिय और बाद मे वैश्य-तीसरे वर्ण की स्थापना की गयी जो क्रमश: प्रथम वर्ग मन्त्र रचना, मन्त्र पाठ, याज्ञिक कार्य तथा पोरोहित्य कार्य से सम्बद्ध था। द्वितीय वर्ग शौर्य, युद्ध, समाज रक्षा और क्रूरता से सम्बद्ध था और तीसरा सामान्य लोगो का समूह था जिसे वैश्य कहा गया। यह व्यवस्था उत्तर काल मे पुष्ट हो गयी, जो चार वर्णो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र मे विभक्त थी। यह वर्ण व्यवस्था, वह वर्ण व्यवस्था थी जिसके द्वारा आर्यो ने सर्वश्रेष्ठ समाज की स्थापना की, जो आज तक विद्यमान है। इसके द्वारा मनुष्य के सब कार्य एवं अधिकार नियत कर सुसस्कृत समाज का गठन किया।

कालान्तर मे वर्ण व्यवस्था मे भी परिवर्तन हुए है। वैदिक काल मे मनुष्य अपने श्रेष्ट कर्मो के आधार पर उच्च वर्ग मे अपना स्थापन करना जीवन का लक्ष्य मानता था। श्रेष्ठता के प्रयास मे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय मे प्रतिस्पर्धा रही, जिससे समय-समय पर कई ब्राह्मणो ने पुरोहित कार्य छोड़ शास्त्र धारण किये तथा कई क्षत्रियो ने ब्राह्मण धर्म अपनाया जिनमे विश्वामित्र, विदेह शासक जनक, प्रवाहण जाबलि, अश्वपति केकय और विद्वान शासक अजात शत्रु जैसे क्षत्रियो ने पोरोहित्य, याज्ञिक क्रियाये तथा दार्शनिक गवेषणाओ मे पारगत होकर ब्राह्मण कर्म किया तथा ब्राह्मणो मे भी क्षात्र धर्म स्वीकार करने वालो मे मुख्य द्रोणाचार्य व परशुराम थे। कालान्तर मे पुष्य मित्र शुग ने भी क्षात्र धर्म स्वीकार कर शु ग वश की स्थापना की। कण्व, सातवाहन, वाकाटक आदि राजवश भी ब्राह्मण थे। इन लोगो ने अपने-अपने धर्म एवं कर्म बदले लेकिन वर्ण नही बदल पाये। इस विवरण से ज्ञात होता है कि वर्ण व्यवस्था कितनी मजबूत थी। इस सामाजिक वैदिक व्यवस्था का आधार कडे सघर्ष एवं तप के बाद न्यायोचित व्यवस्था के अन्तर्गत तैयार किया गया।

वैदिक युग मे मनुष्य श्रेष्ठ कर्म कर श्रेष्ठ वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत स्थित होना चाहता था लेकिन आज परिस्थितिवश मनुष्य शूद्र अर्थात निम्नवर्गीय बनाना चाहता है, यह अव्यवस्था का ही घोतक है। आज समाज की स्थिति अव्यवस्थित हो चुकी है।

इस समय के चिन्तन और प्राचीन काल के चिन्तन मे रात-दिन का अन्तर आ चुका है। समाज जाति-उप जातियो मे विभक्त होने के कारण अपनी वैज्ञानिकता खोता जा रहा है। वर्तमान चिन्तको एव विचारको के लिये समाज की व्यवस्था एक कडी चुनौती के रूप मे खडी होती जा रही है। उस समय नैतिक मूल्य एव अनुशासित जीवन का ह्रास हो रहा है तथा समाज अराजकता, अनैतिकता की और बढ रहा है। मानव भौतिक सुखो मे इहीलोक तथा परलोक की सिद्धि मानता है, जो वैदिक सभ्यता और आदर्शो को ग्रसती जा रही है।

आज भी यदि समाज वैदिक सिद्धान्तो एव व्यवस्था को अगीकार करता है तो हर क्षेत्र मे प्रगति सम्भव है। और प्रगति के लिये वैदिक व्यवस्था की वैज्ञानिकता को स्वीकार करना होगा।

जाति एवं वर्ण-व्यवस्था

गुलजार सिंह चौहान
सहा० पुस्तकालयाध्यक्ष

एक ही जन्म मे कर्म के अनुसार वर्ण परिवर्तन हो सकता है जाति और वर्ण को एक मान लेना उचित नही है। आज हमारे देश में जाति-भेद की समस्या उग्र रूप धारण किये हुए है। सर्व प्रथम हम जाति शब्द को देखते हैं। जाति शब्द की शास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार है— "समान प्रसवात्मिक जाति"।

अर्थात् जो प्राणी अपने जैसी सन्तान पैदा करने की सामर्थ्य रखता हो, उस प्राणी वर्ग की एक जाति होती है। जैसे– भेड, बकरी की सन्तान भेड, बकरी ही होगी कुत्ता नही। गाय और बैल की सन्तान गाय और बैल ही होगी, भेड बकरी नही। इसी प्रकार मनुष्य की सन्तान मनुष्य ही होगी, पशु नही। अर्थात मनुष्य चाहे किसी भी रग या किसी देश का हो, उसकी सन्तान हमेशा मनुष्य ही होगी। अत: जाति का सम्बन्ध जन्म के साथ जुडा हुआ है। अर्थात जाति शब्द का अर्थ ही जन्म है। इस प्रकार जाति और वर्ण एक ही हो सकते क्योकि जाति का सम्बध जन्म से है और वर्ण का सम्बन्ध कर्म से है। वर्ण बदल सकता है जबकि जाति नही।

डा० राधाकृष्णन् का भी यही मत है कि वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित है जन्म पर नही। आपके अनुसार कुछ ऐसे उदाहरण है जिनमे व्यक्तियों और समूहो ने अपना सामाजिक वर्ण बदल लिया था। विश्वामित्र, अजमीढ और पुरामीढ को ब्राह्मण वर्ण मे स्थान दिया गया था, और यहां तक कि उन्होने वैदिक ग्रन्थो की रचना भी की यास्क ने अपने निरुक्त मे बताया है कि सन्तानु और देवापि दो भाई थे, उनमे एक क्षत्रिय राजा बना और दूसरा ब्राह्मण पुरोहित। दास कन्या इलुषा के पुत्र कवष ने एक ज मे ब्राह्मण पुरोहित का कार्य किया था। भागवत मे बताया गया है कि धष्ट्र नामक क्षत्रिय जाति उन्नत होकर ब्राह्मण बन गई थी।

वर्ण व्यवस्था की कई व्याख्याए की गई हैं। ठीक व्याख्या करने वालो में महर्षि दयानन्द सरस्वती का स्थान सबसे ऊपर है। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका [पृष्ठ २३४] मे महर्षि ने कहा है कि यह विशेष जाना चाहिये कि प्रथम मनुष्य जाति सबकी एक है,

सो भी वेदों से सिद्ध है। वेद में श्रेष्ठ मनुष्य को आर्य और दुष्ट मनुष्यों को दस्यु कहा है। समाज मे श्रेष्ठ और दुष्ट दोनो ही प्रकार के मनुष्य रहते हैं। जब बच्चे का जन्म होता है तब वह अबोध होता है और बड़े होने पर उसमे जैसे सस्कार पड़ते हैं वह वैसा ही बन जाता है। जो बच्चा व अच्छे संस्कारो से वंचित रह जाता है उसमे दुष्ट वृत्तियां विकसित हो जाती हैं। और वह वैसा ही बन जाता है। जन्म काल से लेकर शिक्षा काल तक व्यक्ति का कोई वर्ण नही होता जन्म से चाहे वह किसी भी वर्ण का हो लेकिन शिक्षा ग्रहण करते हुए वह अपनी रुचि के अनुसार जिस पाठ्यक्रम मे विशेष दक्षता हासिल कर लेता है वही उसका वर्ण हो जाता है। व्यक्ति वर्ण का चुनाव स्वयं करता है और इसमे वह अपने गुरू की सहायता भी लेता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि यदि किसी का पिता अधा है तो क्या उसका पुत्र भी अपनी आख फोड़ लेवे। यदि किसी का पिता कुकर्मी हो तो क्या उसका पुत्र भी कुकर्म को ही करे ? नहीं, जो पुरुषो के उत्तम कार्य हो उनको ग्रहण करना चाहिए और जो दुष्ट का कार्य हो उनका त्याग कर देना चाहिये। काशी मे एक व्यक्ति ने महर्षि स जाति भेद के बारे मे जानना चाहा तो महर्षि दयानन्द ने कहा कि ब्राह्मणवादि वर्ण जन्मगत नही हो सकते, यदि ऐसा हो तो एक ब्राह्मण के दो पुत्रों म यदि एक मुसलमान और एक ईसाई हो जाये तो क्या फिर भी वे ब्राह्मण ही कहलायेंगे यदि नही तो ब्राह्मणत्व कहा रहा इससे यह सिद्ध है कि जो उत्तम कर्म करते है वे ही ब्राह्मादि और जा उच्च वर्ण होकर नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण मे गिनना चाहिए। महर्षि ने यह भी कहा कि जो व्यक्ति धर्म कर्महीन हो जाये उनके यज्ञोपवीत उत्तर देने चाहिए। अर्थात चाहे वह ब्राह्मण के घर मे जन्मे हो लेकिन अब शुद्र माने जायेंगे और उन्हे यज्ञोपवीत धारण करने का कोई अधिकार नही है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिशु चाहे किसी का हो अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और चाहे शूद्र का हो सभी समान है। सभी को शिक्षा प्राप्ति के समान अवसर मिलने चाहिये। इसलिए गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली पर जोर दिया गया है। जहा सभी के बच्चो का एक साथ रहना, खाना-पीना, पढना लिखना होता है। अतः हमारा यह मत है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा बताई गई वर्ण व्यवस्था ही सच्ची वर्ण व्यवस्था है और उसी को अपनाने मे राष्ट्र की उन्नति संभव है।

वर्ण-व्यवस्था और उसकी समसामयिकता

डॉ० कृष्ण कुमार

मिश्रा बाग, हनुमानगढ़ी कनखल (हरिद्वार)

प्राचीन समय मे भारतीय समाज का संघटन वर्ण-व्यवस्था के आधार पर हुआ था। ये वर्ण चार थे– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वर्ण परम्परा की रक्षा करना राज्य का धर्म था।[1]

वर्ण–व्यवस्था का प्रारम्भ

भारतीय समाज मे वर्ण-व्यवस्था के प्रारम्भ के संकेत 'ऋग्वेद' मे उपलब्ध होते हैं। महाभारतकार ने ऋग्वैदिक वर्ण व्यवस्था को स्वीकार करके इसी पद्धति से समाज का विभाजन चार वर्गो में किया था।[2]

वर्ण पद की निष्पति/वृजवरणे धातु से हुई। इसका अर्थ है– वरण करना, चुनना मनुष्य अपने स्वभाव एवं योग्यता के आधार पर अपने वर्ण को चुनता है। प्रारम्भिक काल मे यह वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मानुसार रही होगी, क्योंकि उससे पूर्व सम्पूर्ण प्रजा का वर्ण एक ही था।[3] वर्णो का विभाजन उनके व्यवहार के अनुसार किया गया।

परन्तु कालान्तर में वर्ण का निर्धारण जन्म के आधार पर किया जाने लगा। अब यह वर्ण के स्थान पर जातिगत हो गया परन्तु जन्म के आधार पर वर्ण–व्यवस्था

---

१. (क) वर्णानामाश्चमाणाञ्च राजा सृष्टोऽभिक्षिता ।।मनुस्मृति ७ ३५।।

(ख) व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रम स्थितिः ।

त्रय्या हि रक्षितो लोक. प्रसीदति न सीरति ।।अर्थशास्त्र-शिक्षासमुद्देश।।

२. ब्राह्मणो मुखत: सृष्टो ब्रह्मणा राजसत्तम ।

बाहुम्या क्षत्रियः सृष्ट उरुम्यां वैश्य एव च ॥

वर्णाना परिचयार्थ त्रयाणा भरतर्षभ ।

वर्णश्चितुर्थं : पश्चात् पद्भ्यां शूद्रोविनिर्मितः ॥ महाभारत-शान्तिपर्व ७२.४.५ ॥

३. अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास्तथा प्रभो ।

एकवर्णाः समभाषा एक रुपाश्च सर्वशः ।। रामायण ३.१० १९ ।।

को महाभारतकार द्वारा चुनौती दिये जाने पर भी यह प्रयत्न सफल नही हो सका। वर्ण का आधार जन्म प्रतिष्ठित हो गया। मनु ने ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न व्यक्ति को चाहे वह विद्वान् हो या मूर्ख, ब्राह्मण ही माना। वह देवता के समान महान होगा।[1] कालिदास के समय तक वर्ण निर्धारण को जन्म के आधार पर प्रतिष्ठित मान लिया गया था। भारत वर्ष मे अभी तक यह व्यवस्था सामान्यत. जन्मानुसार ही प्रचलित है। गुण-कर्म का अधिक महत्व नही रहा हैं। यह वर्णगत धर्म अब जातिगत हो गया है।

वैदिक युग का समाज गुण-धर्म के आधार पर चार वर्णो मे विभक्त था, जो कालान्तर मे जन्म के आधार पर चार जातियो मे विभक्त रहा। वर्णो का आधार जन्मगत हो जाना आर्यो के हिन्दुओ के लिए बहुत अधिक हानिकारक रहा। ऐतिहासिक प्रमाणो से यह स्पष्ट है कि हिन्दू समाज के पतन और पराधीनता के लिए यह जन्म गत वर्ण-व्यवस्था बहुत अधिक उत्तरदायी है। अपने महत्व और प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए ब्राह्मणो ने जो कि विधि निर्माता थे वर्णो को जन्मगत निश्चित करके जो रूप दिया उसने हिन्दू समाज को छोटे छोटे वर्गो मे विभक्त करके पतन के गढे मे धकेल दिया। बौद्ध धर्म के ह्रास तथा ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के युग मे यह घटना और भी अधिक प्रबल रूप से हुई।

यह बहुत अधिक विस्मयजनक और कष्ट दायक है कि जिस हिन्दू जाति में इतनी अधिक उदारशीलता और ग्रहणशीलता थी, जिसने सारे विश्व मे विदेशो मे आर्य धर्म और सभ्यता का प्रसार किया था, इस देश मे प्रवेश करने वाली सभी आक्रमण कारी जातियो यूनानी, पर्थियन, शक, हूण, कुषाण आदि को अपना अभिन्न अग बना लिया था, वह हिन्दू समाज इतना अधिक सकीर्ण कैसे हो गया। इस अनुदारता और सकीर्ण मनोवृत्ति का मुख्य कारण वर्णो का जन्मगत हो जाना और उनमे पारस्परिक सम्बन्धों का कठोर हो जाना ही है। इस कारण निम्न वर्णो मे उत्पन्न होने वाले बालकों के और व्यक्तियो के उन्नति के द्वार बन्द हो गये हिन्दू समाज से बाहर के व्यक्तियों को म्लेच्छ मान कर उनके साथ सभी प्रकार के सम्बन्धो का परित्याग कर दिया गया। कही हम बाह्यम्लेच्छों के सम्पर्क से दूषित न हो जावे, इस कारण समुद्र-यात्रा और अन्य विदेश यात्राओ को पाप समझा जाने लगा।

१. अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्॥ मनु० ९.३१७॥

वर्ण-व्यवस्था की इस कठोरता ने हिन्दू समाज को अकल्पनीय हानि पहुंचायी। वैदिक युग मे वर्णो मे परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध मान्य थे। इनमे रुकावट नही थी। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो से उत्पन्न सन्ताने अपनी योग्यता और रुचि के आधार पर अपने वर्णो को प्राप्त कर लेती थीं। वर्ण-व्यवस्था के कठोर रूप से जन्मगत हो जाने पर परस्पर विवाह के सम्बन्ध समाप्त हो गये। यदि कभी परस्पर सयोग और विवाह के सम्बन्ध हो भी गये तो उनसे उत्पन्न सन्तानो को वर्ण संकर समझा गया। इनको जाति मे बहिष्कृत कर शूद्रो के तुल्य माना गया।

इस समय ब्राह्मणो की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने वाले मनु ने अनुलोभ विवाह की अनुमति तो दे दी, अर्थात् उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण की कन्या से तो विवाह कर सकता था, परन्तु यह भी अधिक सम्मानजनक नही था। इससे उत्पन्न सन्तान वर्णसकर थी और उसको अपने पिता का वर्ण नही मिल सकता था। मनु ने प्रतिलोभ विवाह का निषेध किया निम्न वर्ण के पुरुष के सयोग से उच्च वर्ण की कन्या मे उत्पन्न सन्तान को अति निकृष्ट माना गया। शूद्र पुरुष ब्राह्मण कन्या मे यदि सन्तान को उत्पन्न करता है तो वह सन्तान चाण्डाल होगी[1] तथा उसकी सामाजिक स्थिति पशुओ से भी अधिक गिरी हुई होगी। इसका परिणाम यह हुआ कि जाति बहिष्कृत वर्णसकरो की सख्या बहुत अधिक हो गई। उनको हिन्दू समाज का बहुत बडा कलक माना गया।

इस जन्मगत वर्ण-व्यवस्था ने शूद्रो को बहुत अधिक हीन अवस्था मे कर दिया उनके सम्पूर्ण गौरव और अधिकार को यहा तक कि सम्पत्ति के अधिकार को भी छीन लिया गया। उच्च वर्णो ने शूद्रो पर अकथनीय अत्याचार किये। उनके साथ सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धो का निषेध कर दिया गया। विवाह आदि सम्बन्धो का तो कहना ही क्या है साथ बैठकर खान-पान भी बन्द हो गये थे। शूद्रो का एक मात्र कार्य अन्य वर्णो की सेवामात्र हो गया। समाज मे इनकी अवस्था इतनी हीन और अपमानजनक हो गई कि इनका स्पर्श करना और छाया पड़ जाना भी पाप समझा जाने लगा।

---

१. मनुस्मृति १०.१२ ॥

इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि पद-दलित शूद्र वर्ग में आत्महीनता के भाव तो भर ही गये, उनमे अपनी जाति, धर्म और देश के प्रति गौरव और प्रेम के भाव भी नष्ट हो गये। इस अवस्था में उन्होने अपने सनातन वैदिक धर्म का परित्याग करके अन्य धर्मो को स्वीकार करने मे भी कोई सकोच नही किया। पहले तो उन्होने मनुष्य मात्र के प्रति समभाव का उपदेश देने वाले बौद्ध धर्म को अपनाया। जब भारत पर मुसलमानों और ईसाईयो के आक्रमण हुए और उन्होने शूद्रो को समानता का दर्जा देने की घोषणा की तो अनेक शूद्र इन धर्मों मे दीक्षित हो गये। हीन वर्ण के ये व्यक्ति बड़ी सख्याओ मे मुसलमान और ईसाई हो गये।

बौद्धिक कार्य करने वाले ब्राह्मणों ने शारीरिक श्रम को हीन दृष्टि से देखा था शारीरिक श्रम से जीविका उपार्जन करने वालो को उन्होने शूद्र की कोटि मे रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि क्षत्रिय और वैश्य भी शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखने लगे। ऐसे पेशे, जिनमे कि शारीरिक श्रम अपेक्षित था, शूद्रों के लिये निर्धारित कर दिये गये। पहले शिल्पियों को वैश्य समझा जाता था। राज, बढ़ई, कुम्हार, सुनार, लौहार, ठठरे आदि शिल्पी जो वैश्य वर्ग मे आते थे, शारीरिक श्रम करने के कारण शूद्र वर्ग मे ढकेल दिये गये। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि जगति से बहिष्कृत और सामाजिक सम्मान से वचित इस वर्ग ने बडी संख्या में हिन्दू धर्म का परित्याग करके अन्य धर्मो की दीक्षा ली। यही कारण है कि आज भारत मे कारीगरो मे हिन्दू कम ही दिखाई देते है।

शिक्षा और विज्ञान की प्रगति मे भी इस जन्मगत वर्ण-व्यवस्था ने बहुत बड़ा अवरोध उत्पन्न किया। शिक्षा देने का प्रमुख कार्य ब्राह्मण वर्ग का था। प्रथम तो उन्होने शूद्रो को विद्या-अध्ययन के अधिकार से वचित किया, तदनतर स्त्रियो को। इस प्रकार समाज का तीन चौथाई भाग विद्या प्राप्त करने के अधिकार से वचित कर दिया गया।

कालान्तर में वेद आदि शास्त्रो को पढने का अधिकार ब्राह्मण वर्ग का ही रह गया क्षत्रिय और वैश्य, जो पहले वेद-वेदाङ्गो की शिक्षा पाते थे और यज्ञ का अधिकार

रखते थे, केवल अपनी जीविका उपार्जन के लिये मात्र उपयोगी ही शिक्षा प्राप्त करके सन्तुष्ट रहने लगे शनैः शनैः ब्राह्मणो मे भी विद्या प्राप्त करने के लिए परिश्रम का उत्साह मन्द हो गया। ब्राह्मण को अपने जन्म के कारण ही समाज मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो जाता था। अतः अध्ययन के श्रम के प्रति उनकी रूचि क्यो होती ?

अपने को जन्म के कारण ही ब्राह्मण श्रेष्ठ समझने थे। उन्होने हिन्दुओ से भिन्न अन्य जातियो को म्लेच्छ कहा और उनके साथ सम्पर्क को दोषयुक्त माना। इस सम्पर्क से बचने के लिये विदेश यात्राये भी बन्द हो गई। इससे भारत का वैदेशिक व्यापार तो बन्द हो ही गया विदेशो से ज्ञान का सम्पर्क भी समाप्त हो गया। विदेशो मे होने वाले वैज्ञानिक आविष्कारो, विशेष रूप से सैन्य विज्ञान से सम्बन्धित आविष्कारो से हिन्दू वचित रहे। भारत वर्ष की पराधीनता मे यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारत की सेनाये वीरता, सहास और सख्या मे किसी भी आक्रमणकारी सेना से श्रेष्ठ होने पर भी उनकी वैज्ञानिक युद्ध प्रणाली और उनके नये ढग के विकसित हथियारो के कारण पराजित हुई।

वर्ण-व्यवस्था की कठोरता के कारण अनेक वर्गो मे विभाजित हुये हिन्दू समाज मे वर्णो के पारस्परिक सम्बन्धो मे मधुरता का अभाव रहा। परस्पर वैवाहिक और खानपान के सम्बन्ध तो समाप्त हो ही गये थे, उनमे सगठन भी नही रहा। वर्णो के कर्तव्य निर्दिष्ट थे, अतः प्रत्येक वर्ण अपने ही कार्य को करने मे सक्षम था। सैनिक शिक्षा को प्राप्त करने और युद्धो मे भाग लेने का अधिकार केवल क्षत्रियो का ही था। परन्तु सम्पूर्ण हिन्दू समाज मे क्षत्रियो की सख्या अधिक नही थी। देश की अधिक जनसख्या वैश्यो और शूद्रो की थी, जो सैनिक शिक्षा लेने और युद्धो मे भाग लेने के अधिकार से वचित थे। अतः विदेशी आक्रमणो के प्रति वे उदासीन ही रहे।

इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी आक्रमण होने पर देश की रक्षा करने के लिये उनका मुकाबला करने का उत्तरदायित्व क्षत्रिय राजाओ और उनके वेतन भोगी क्षत्रिय सैनिको का रहा देश के बहु सख्यक समाज ने युद्धो मे भाग नही लिया। इस कारण भारतीय सेनाये पराजित हुई। इसका दुष्परिणाम भारतीयो को पराधीनता

के रूप मे भोगना पड़ा । यह देश शताब्दियो तक विदेशियो और विजातियो के अधिकार मे रहकर दुःख भोगता रहा । भारत वर्ष पर मुसलमानो की विजय तभी हुई, जबकि हिन्दू समाज निर्बल हो गया और इसका पतन हो गया ।

आर्यो की हिन्दुओ की वर्ण-व्यवस्था मे ऊपर कहे गये दोष वैदिक व्यवस्थाओ को भुला देने के कारण ही सम्भव हुये थे । वैदिक वर्णव्यवस्था मे समाज के सभी वर्गो को समान रूप से उन्नति करने के अवसर दिये गये थे । किसी भी वर्ण के परिवार मे उत्पन्न व्यक्ति अपनी योग्यता, परिश्रम तथा रुचि द्वारा योग्य वर्ण पा सकता था । एक ही परिवार के सदस्य विभिन्न वर्णो के ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण के हो सकते थे । अत. वर्णो मे परस्पर विरोध और भेदभाव के अवसर नही थे ।

समाज के सर्वाङ्गीण विकास के लिये यह व्यवस्था बहुत उत्तम थी । अपनी योग्यता और क्षमता के द्वारा अपने अनुरूप कार्य को प्राप्त करके भी विभिन्न वर्णो को अपनी अन्य आवश्यकताओ के लिये अन्य वर्णो पर निर्भर रहना पड़ा था । विद्या, तप और बौद्धिक श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण को यद्यपि समाज मे श्रेष्ट स्थान प्राप्त था, तथापि वह शासक नही था । व्यवस्था पर उसका नियन्त्रण नही था । प्रशासनिक सुविधाओं, आर्थिक आवश्यकताओ और घरेलू कार्यो के लिये उसे क्रमश क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का आश्रय लेना होता था । इसी प्रकार क्षत्रिय शासको के प्रशासनिक कार्यो पर ब्राह्मणो का अकुश रहता था और धन की प्राप्ति के लिये वे वैश्यो पर निर्भर थे । इस प्रकार एक वर्ग अपने कार्यो को करते हुये भी अन्य वर्णो के सहयोग के बिना जीवन-यापन नही कर सकता था । अपने-अपने स्थान पर सभी वर्णो का महत्त्व और सम्मान था । वैदिक मन्त्रो मे सभी वर्णो के लिये प्रेम तथा सद्भाव की प्रार्थना की गई है ।[1]

वर्ण-व्यवस्था का जो प्राचीन रूप रहा और कालान्तर मे वह जिस रूप को धारण करता गया, उसका पाश्चात्य विचारको ने भी गहन अध्ययन किया है । एक ओर जहा उन्होने इसकी कटु आलोचना की है[2], वही दूसरी ओर प्रशसा भी की है ।[3] समाज के सगठन की यह परम्परा अद्भुत है । इसका सादृश्य अन्यत्र दुर्लभ है । वर्तमान समय मे भो यह किसी न किसी रूप मे अस्तित्व मे है ही ।

१. रुच नो धेहि ब्राह्मणेषु रुच राजसु न स्कृधि ।
   रुच वैश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ यजुर्वेद १८.४८
२. Ancient law Mai:— पृ०१७
३. Vision of India पृ० २६२–२६३

वैदिक वर्णव्यवस्था का ऊपर का रूप प्रायः सभी सभ्यताओं मे किसी न किसी रूप मे मिल सकता है। समाज को शिक्षकों की और विधि निर्माताओं की आवश्यकता होती है। शासन-व्यवस्था के सचालन के लिये प्रशासकों की तथा देश रक्षा के लिये सैनिकों की आवश्यकता रहती है। समाज की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कृषक, पशुपालक, उपयोगी-शिल्पी-व्यापारी होते हैं। शिल्पी विविध सामानों का निर्माण करते हैं। विविध सेवाओं को सम्पन्न करने के लिये सेवक भी रहते हैं। वैदिक ऋषियों ने इन आवश्यकताओं का वर्गीकरण करके सामाजिक आवश्यकताओं को चार वर्गों मे विभक्त किया था। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की व्यवस्था हुई।

वर्णों के इस विभाजन ने समाज की बौद्धिक, प्रशासनिक और आर्थिक उन्नति में महत्वपूर्ण योग दिया था। सर्वथा वर्ग हीन समाज की कल्पना अक्रियात्मक और असम्भव है। विभिन्न सामाजिक कार्यों के लिये वर्गों की रचना किसी न किसी रूप में करनी ही होती है। इसमे दोष तभी उत्पन्न होता है, जब किसी की योग्यता एवं क्षमता का विचार न करके, वंशपरम्परा को आधार बना कर उसके कार्य को सुनिश्चित कर दिया जावे। वैदिक वर्णव्यवस्था के मूलरूप को भुला देने के कारण ही हिन्दू समाज मे जातिगत और वर्णगत संकीर्णतायें उत्पन्न होकर देश और जाति का पतन हुआ।

वैदिक वर्णव्यवस्था वस्तुतः समाज के कार्य को सुचारू रूप से सचालित करने का मार्ग था। यह सामाजिक आवश्यकताओं के समाधान का परमप्रभु ने प्रणति किया था और ऋषियों ने इसको प्रवर्तित किया था। अपनी सभी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति इस मार्ग मे है। इसमें वर्णगत विशेष या भेदभाव का कोई स्थान नहीं है। वर्तमान युग मे जो समाज मे जातिगत विद्वेष तथा भेद के भाव दृष्टिगोचर होते हैं, उनका मूल कारण यही है कि समाज के नेताओं ने वर्ण को जाति के रूप में परिवर्तित कर उसको जन्मगत स्वरूप दे दिया। आज भी सामाजिक जातिगत विद्वेष और भेदभाव की चिकित्सा यही है कि वर्णों का आधार जन्म को न मान कर गुण-कर्म एवं योग्यता-क्षमता को प्रदान किया जावे। यही वैदिक सकल्पना है और यही परमप्रभु परमात्मा का आदेश है।

वैदिक वर्ण व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार

डॉ० जय किशन प्रसाद खण्डेलवाल
वृन्दावन शोध संस्थान वृन्दावन

यजुर्वेद में उल्लिखित "आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो"। (२२ २२)

इत्यादि वैदिक प्रार्थनाएं राष्ट्रिय एकता को प्रस्तुत करती है। वैदिक संस्कृति मे किसी भी प्रकार का भेदभाव नही था सभी को अपनी-अपनी क्षमता के अनुरूप कार्य आवटित था, सभी मिलकर समाज की उन्नति मे सहायक होते थे।

वैदिक आदर्शो से अनुप्राणित वर्णव्यवस्था मे ऊच-नीच का भाव नही था। इसका आधार मानवता के सम्मान के लिए था। इसीलिए इस व्यवस्था को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्" का उद्घोष मानवीय गौरव की भावना को अभिव्यक्त करता है। शूद्र वर्ण के व्यक्तियो ने भी वैदिक ऋषित्व के सम्मानपूर्ण पद को प्राप्त किया है। ऋग्वेद मे भी कहा है—

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।" (ऋ ५ ६०.५)

वेद स्पष्ट घोषित करता है कि न कोई बडा है न छोटा है— ये सभी भ्राता सौभाग्य के लिए साथ-साथ बढ़ते हैं। इसी आधार पर अथर्ववेद (१६.६२.१) मे मनुष्यो को निर्देश दिया है— "प्रिय सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।" कि शूद्र और आर्य सबका प्रियत्व देखें।

यजुर्वेद (१८ ४८) में परमेश्वर से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबमे समान रूप से शोभा या दीप्ति का आधान करने की प्रार्थना की गई है, जिससे सबका समान कल्याण हो और कोई भी अपमानित न हो— रुचं नो देहि ब्राह्मणेषु रुच राजसु नस्कृधि।

रुचं विश्येषु शूद्रेषुमयि धेहि रुचा रुचम्॥ (यजु० १८ ४८)

सबकी समान समृद्धि से ही समाज की समृद्धि सभव है। समाज के सभी अंगों के स्वस्थ रहने पर समाज उचित दिशा में प्रगति कर सकता है। समस्तसमाज मे बन्धुत्व, मित्रता की भावना वैदिक समाज व्यवस्था का आदर्श है। इसीलिए यह निश्चय व्यक्त किया गया कि हम एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखते है— मित्रस्य

चक्षुषा समीक्षा महे (शुक्ल यजु. ३६.१८) तभी यह सदिच्छा व्यक्त होती है कि सब दिशाएं हमारी मित्र हो जाएं— सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु (अर्था १६ १५.६) इस भावना के आधार पर ही वेद का आदेश है कि मनुष्य सब ओर से मनुष्य की रक्षा करे— पुमान् पुमास परिपातु विश्वतः (ऋ ६.७५.१४) यह है व्यापक विश्व-परिवार की वैदिक भावना। इसमे ऊच–नीच का कही लेशमात्र भी अवकाश नही है। वैदिक परिवार-रचना न तो जाति भेद के आधार पर थी और न अंश परम्परा की सीमित परिधि के भीतर।

वेदो मे चारों वर्णों के कर्तव्यों का यथास्थान विधान किया गया है। ब्राह्मण को शिक्षा, क्षत्रिय की रक्षा, वैश्य को व्यापार और शूद्र को शिल्प का कार्य विशेष रूप से दिया गया है—

ब्रह्मणे ब्राह्मण क्षत्राय राजन्यम्, मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम् (यजु ३०.५)

वेदों मे चारों वर्णों को यज्ञ करने का अधिकार प्रदान किया गया है। पचजना: शब्द के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के अतिरिक्त अति शूद्र को भी यज्ञ करने अधिकार दिया गया है।—

जना यदग्निमयजन्त पच (ऋ० १०.४५ ६ यजु०—१.२ २३)

वेदो मे सामाजिक एकता को सुदृढ करने के लिए सहभोज और सहपान का भी प्रावधान है क्योकि खानपान मे सहभागी होने पर ही समाज के प्रत्येक वर्ण के लोगो मे आत्मीयता का भाव जाग्रत होता है—समानी प्रपा सह को अन्नभाग: (अर्था. ३.३०.६)।

वैज्ञानिक आधार—

वैदिक वर्ण व्यवस्था में योग्यता के अनुसार कार्य करने का विधान है। गुण–कर्म के विभाग से वर्ण–व्यवस्था की गई है। जाति के आधार पर यह व्यवस्था नही है किन्तु कर्म के अनुसार इसकी व्यवस्था है इस व्यवस्था के अनुसार चारो वर्णो की समाज को आवश्यता है सबका समान महत्व है, ऊच नीच का कोई भेदभाव नही है। कोई अपने विशेष कुल मे जन्म के कारण अस्पृश्य नही है। सबके समान सहयोग से ही समाज की उन्नति संभव है। सभी मे समस्त कार्यो को करने की क्षमता नहीं होती। अतः यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक वर्ण-व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार है और उसका उद्देश्य समाज एवं राष्ट्र की पूर्ण समृद्धि है। इस व्यवस्था से सामाजिक जीवन सुखमय एवं परिपूर्ण होता है।

यास्ककालीन वर्ण-व्यवस्था

डॉ० दिनेशचन्द्र धर्ममार्तण्ड
वेद विभाग, गुरकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार–२४६४०४ (उ०प्र०)

वेदों को यथार्थरूप से समझने एवं तदनुकूल आचरण करने के लिए निर्मित षडङ्ग या वेदाङ्ग साहित्य में यास्क प्रणीत निरुक्त का महत्व पूर्णस्थान है। आचार्य यास्क ने इसमें ६३४ वेदमन्त्रों और ३२ शाखा मन्त्रों की पूर्ण या आंशिक व्याख्या की है।[1] आवश्यकतानुसार इसमें जहां सांस्कृतिक दार्शनिक एवं मनोविज्ञान आदि के विविध विषयों से सम्बन्धित विशेष-परिवेश को ध्यान में रखा गया है, वहीं कहीं-कहीं समाज विज्ञान को भी यास्काचार्य ने अनावृत किया है। क्योंकि कोई भी रचना तत्कालीन वातावरण से अछूती नहीं रहती इसलिए यास्कीय निरुक्त भी अपने समय की सामाजिक परिस्थिति से अछूता नहीं रहा है। एतत्सम्बन्धी स्थान-स्थान पर निरुक्त में निर्दिष्ट संकेतों के विवेचन से तत्कालीन समाज की एक धुंधली सी झलक मिलती है। इन संकेतों के स्रोत मुख्य रूप से यास्कीय निर्वचन और उनके मन्त्रों की व्याख्या है। जिनका दोहन करके यास्क कालीन सामाजिक वर्ण-व्यवस्था की पृष्ठभूमि देने का प्रयास है।

यास्क के समय में सामाजिक संगठन बहुत सुगठित, सुश्लिष्ट तथा निर्दोष था। समाज का आधार वर्णव्यवस्था थी, जाति-व्यवस्था नहीं। समाज में ५ जन थे — १ ब्राह्मण २. क्षत्रिय ३. वैश्य ४ शूद्र तथा ५ निषाद। उनमें प्रथम चार जन वर्ण कहलाते थे और पांचवा जन सम्भवत आर्यों भिन्न किन्तु आर्यों के रीति तथा धार्मिक क्रियाओं को स्वीकार करने वालों का रहा होगा।[2] जैसा कि निरुक्त ३.८ में उल्लेख मिलता है — 'पञ्चजना ·· ··· चत्वारो वर्णा, निषाद पञ्चम इत्यौपमन्यव। निषाद कस्मात्? निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता।'

---

१. द्र चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्नकृत वेदार्थ दीपक निरुक्तभाष्य की भूमिका।
२ द्र प शिवनारायण शास्त्री, नि०मी०, पृ० ३७०

नि० २.१० के अनुसार कोई क्षत्रिय अपना क्षात्र कर्म छोड़कर यदि ब्राह्मण का कर्म करने लग जाता था। वह पुरोहित बनकर यज्ञ भी करवाया करता था। इस सन्दर्भ मे यास्काचार्य ने एक आख्यान का उल्लेख किया है :— 'स शन्तनुः कनीयानभिषेचया-ञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रपेदे तमुवाच देवापि. पुरोहितस्तेऽसानि, याजयामि च त्वेति।'

अस्पृश्यता:— यास्ककालीन समाज मे परस्पर छुवा-छूत भी नही थी। पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् (ऋ. सं १०.५४४) मे अग्निहौत्र करने वाले पञ्चजनो मे औपमन्यव आचार्य ने समाज के पाचो अगो के नाम गिनाये है। यदि आपसी स्पृश्यास्पृश्यता होती, तो पाचो जन यज्ञ मे एक साथ कभी नही बैठ पाते।[1] हा सामाजिक ऊच-नीच अवश्य था। अपने आचार की पवित्रता तथा विद्या की गरिमा से ब्राह्मण श्रेष्ठता की सीमा माना जाता था, तो निषाद तथा वृषल दूसरी सीमा। निषाद को तो पाप का अधिष्ठान ही समझा जाता था। जैसा कि लिखा है— 'ब्राह्मणवद् वृषलवत्' (नि० ३.१६) तथा, 'निषाद' कस्मात् ? निपदनो भवति। निषणामस्मिन् पापकमिति' नैरूक्ता.' (नि० ३.८)।

१. असूया। गुण मे भी दोष-निकालते रहने की आदत।

२ कुटिलता (अनृजुता) छलकपट, आड़े-टेढे तरीके इस्तेमाल करना करते रहना।

३. असयम। गुरु के आश्रम मे रहने के नियमो के पालन मे प्रमाद तथा इस प्रकार अनुशासन भंग करना।[2]

आचार्य :— *नि० १.४ के अनुसार उस समय आचार्य के तीन कर्त्तव्य होते थे—*

१. शिष्य को श्रेष्ठ आचरण सिखलाना - 'आचारं ग्राहयति'।

२. उसे विभिन्न शास्त्रो मे पारङ्गत बनाना— 'आचिनोत्यर्थान्'।

३. उसकी बुद्धि को विशद बनाना — 'आचिभेति बुद्धिमिति वा।'

---

१. द्र। नि० ३ ८ मे ऋ स. १०.५४.४ की व्याख्या।

२. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
अमूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

स्वयं यज्ञादि धार्मिककृत्य करना तथा गृहस्थ का पुरोहित बनकर उनके यज्ञादि धर्म-कृत्य कराना भी ब्राह्मण का प्रमुख कृत्य होता था। यज्ञादि धार्मिक प्रसगों मे पुरोहित को सबसे प्रथम प्रमुख - स्थान मिलता था। इसका सकेत यास्क ने नि. २.१२ में इस प्रकार किया है — पुरोहित. पुर एन दधति'।

लोगो मे आपेक्षिक श्रेष्ठता विद्या के आधार पर ही मानी जाती थी। किसी एक विद्या मे निपुण पुरुष का बहुत सम्मान होता था। उससे अधिक सम्मान होता था पारोवर्यवित् अर्थात् शास्त्र के पारदृश्वा विद्वान् का। पारदृश्वा विद्वानो मे भी जो जितना अधिक ज्ञानी होता था, उसका उतना ही अधिक सम्मान होता था — 'यथा जानपदीषु विद्यात. पुरुषविशेषो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।' नि० १ १६)

क्षत्रिय:— क्षत्रियो में राजा का बहुत सम्मान होता था। राजा को अत्यन्त ऐश्वर्यशाली माना जाता था। जैसा कि निरुक्त और निघण्टु मे लिखा है—(१) राजा राजतेः (नि० २/१२) (२) इरज्यति । पत्यते । क्षयति । राजति । इति चत्वारः ऐश्वर्यकर्माण. । (निघण्टु २.२१)

३. वैश्य— उस समय वैश्य के लिए आम शब्द वणिक् था। व्यापार करना ही उसका प्रधान व्यवसाय होता था। माल को साफ-सुथरा रखना (ताकिग्राहक का आकर्षण हो) उसका प्रमुख गुण-होता था—'वणिक् पण्य नेनेक्ति' (नि० २.१७)

—४ शूद्र और निषाद की सामाजिक स्थिति, उनके कर्त्तव्य आदि पर और कुछ प्रकाश डालने का अवसर निरुक्त मे नही आया है। अत. हम उस पर अधिक कहने की स्थिति मे नही है।

इस प्रकार उपर्युक्त लगभग २० प्रामाणिक सकेतो से निरुक्त मे प्रतिबिम्बित यास्ककालीन सामाजिक वर्णव्यवस्था की एक धुंधली-सी झलक मिलती है, जिससे तत्कालीन भारतवर्ष के सामाजिक संगठन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

वैदिक साहित्ये वर्णव्यवस्था

डा० वेदप्रकाश उपाध्याय: आचार्यश्रय:
एम्०ए०डी० फिल्०, डी० लिट्०
अध्यक्ष:- संस्कृत विभागे, पंजाब विश्वविद्यालयोये चंडीगढस्थे

वैदिक साहित्ये वर्णव्यवस्थाया वैज्ञानिक आधार. प्राप्यते। 'वर्णोवृणोते[1] रिति निर्वचनाद् वर्ण शब्द. वरणत्वावछिनत्वव्यवच्छिन्नत्वावच्छिन्न त्वव्यवच्छिन्नत्वमभि-व्यञ्जयति न तु जन्मत्वावच्छिन्न त्वमवबोधयति। वर्णो वरणाद् जातिश्च जन्मना इति वर्णजातिशब्दद्वयं परस्पर भिन्नार्थबोधकता गतम् इत्यत्र न काचिद् विप्रतिपत्ति.। 'गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्य व्रियन्ते ये ते वर्णा:' इति महर्षिदयानन्दसरस्वती सम्मत वर्णशब्दार्थबोधक निर्वचनम्।

शतपथब्राह्मणस्य पञ्चम काण्डे 'ब्रह्महिब्राह्मण:' इत्युक्त्वा ब्राह्मणस्य ब्रह्मत्वभाव: प्रतिपादित.।[2] ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वर स्योपासनेन च सह वर्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्त पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति[3] इति तु सर्वथा सत्यम्। क्षत्रियार्थवाचक राजन्यशब्द ऋग्वेद यजुर्वेदयोरुपलभ्यते। 'बाहू राजन्य. कृत.' इत्यत्र शतपथब्राह्मणे उक्त वीर्य वा राजन्यस्य यद्बाहू।[4] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामुक्त महर्षिदयानन्द सरस्वतीमहोदयेन य: पुरुष इन्द्र. परमैश्वर्यवान् शत्रूणा क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्पर: क्षत्रियो भवितुमर्हति।[5] वैश्यश्च परमेश्वरस्योरूस्थानीयो मत। 'पशूना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च वणिक्पथ कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च[6] इति मनुस्मृतौ वैश्यकर्म प्रतिपादितम्। 'पद्भ्या शूद्रो अजायत' इति श्रुते शूद्रवर्णस्य परमेश्वर पादस्थानीयत्व पुष्यति। यथा शरीरस्याधाररूपेण पादौ मन्येते तथैव शूद्रोऽपि समाजस्याधार. परमेश्वर पादस्थानीयत्वात्।

---

१. निरुक्त २.३
२. शब्रा., ५.१.१.११
३. ऋग्वेदादि० पृ० २६७
४. शब्रा ५.४.३.१५–१७
५. ऋग्वेदादि. पृ० २६७
६. मनु० १ ९०

स्मृतिग्रन्थेष्वपि ब्राह्मण क्षत्रियाद्यर्थे वर्णशब्द. लालभ्यते । पुलस्त्यस्मृतौ प्रोक्तम्—वर्णमेकं समाश्रित्य योऽधिकार. प्रवर्तते । वर्णधर्म स विज्ञेयो यथोपनयन त्रिषु । (पुलस्त्य स्मृति ४) । वर्णविषये उच्चावचत्वनियमो नैव प्रवर्तनीयः । सत्यौदार्याहिंसादि-गुण सम्पन्नः शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवितुमर्हति । क्षत्रियकुले जातेन विश्वामित्रेण ब्राह्मणकर्म समाश्रित स्वजीवने ।[1] द्रोणाचार्यः कृपाचार्यः अश्वत्थामा जन्मना ब्राह्मणा सन्तोऽपि कर्मणा क्षत्रियत्व गता इति महाभारतस्य शल्यपर्वणि विशदीकृतम् ।[2] क्षत्रियकुलोत्पन्नः गार्ग्यः ब्राह्मणः अभवदिति भागवत पुराणे स्पष्टम् ।[3] पिशग्रनामा क्षत्रिय कुलोत्पन्नो राजकुमारो कर्मणा शूद्रता जगाम । कैवर्तकन्यायां जात व्यास को न वेद । उर्वश्या. पुत्र वशिष्ठं ब्राह्मणत्वेन सर्वे विद्वाय जानन्ति । वज्रसूच्युपनिषद शाङ्करभाष्ये एतादृशा. अनेके दृष्टान्ता. प्राप्यन्ते, येषु कर्मणा वर्णस्वीकार. समाजे प्रतिष्ठापितो बभूवेति सिद्ध भवति ।

वैदिकसंहितासु प्रतिपादिता वर्णव्यवस्था वैज्ञानिकी वर्त्तते सार्वभौमसमाजस्य आधार त्वेन च स्वीकर्तु शक्यते । न केवल भारतवर्षे अपितु ईरानदेशेऽपि समाजस्य विभाजन चतुर्ष वर्णेषु आसीत् । पुरोहित. योद्धा–व्यापारी सेवकः इति चत्वारो वर्णा इस्लाम—धर्मप्रचारात्पूर्वं तत्र तथैव आसन् यथा भारतवर्षे श्रुतिपादिताः चत्वारो वर्णाः स्वस्वकर्मणि निरता. प्रतिपादिताः । येन केनचिदपि पुरुषेण य वर्ण क्रियते, तस्मिन् रतेन स्वकीय कर्माणि कर्त्तव्यभावनया विधेयानि । चतुर्षु वर्णेषु उच्चावचभावस्त्याज्यः, यत सर्वे एक वर्णा परस्पर पूरकत्वेन मता

एव वर्णा परस्पर पूरकत्वेन मता. ।

१. वाल्मीकीय रामायणम् बालकाण्ड ७.४

२ महाभारत, शल्यपर्व ३०.१०—११

३. भागवतपुराण ६ २१, १६

'वैदिक वर्ण-व्यवस्था वैज्ञानिक आधारः'

डॉ० हरिगोपाल शास्त्री
प्राचार्यः
महाविद्यालय ज्वालापुरस्य

इद नास्ति तिरोहित समस्त शास्त्राटवी परिभ्रमण लब्धमहाविभूतीना महता सता विदुषां यत् निर्धारित विषय घटकाना पदाना व्युत्पत्तिनिमित्त प्रवृत्तिनिमित्त वा यावज्जनो न जानीयाद् तावत् असौ विपन्नो वराको वक्ता यदा स्वमपि बोधयितु न शक्नुयात् कथ तावत् परान् प्रत्याययितुमसौ प्रयतेत । प्रथम मया वैज्ञानिक आधारः इति सम्यक् विचारयतैव अग्रे धावितु पार्येत नान्यथा ।

कमनीय गुणालया महानुभावाः । प्रथमहम् वैज्ञानिक शब्दरहस्य जातमेव स्वलेखनी प्रचारणेन प्रकटयामि । वैज्ञनिक शब्दस्तावत् दाक्षिपुत्रानुसारेण समस्ताष्टाध्यायी घटकेन 'प्रयोजनम्' इति सूत्रेण प्रसिद्धिमाप्नोति, तेन च विज्ञानन्-प्रयोजनम् अस्य इति समुचिता व्युत्पत्तिमनुसरन् विज्ञानशब्द. प्रतीतिपथमलङ्करोति ।

समस्त सारस्वतपारावारीणेन तत्र भवता भगवता महाभाष्यकृता 'गोनर्दीयेन' सूत्रेऽस्मिन् भणित यत् प्रयोजनं फल च कारणञ्च । तच्चेत्थम् प्रयोजयते तत् प्रयोजनम् उताहो प्रयोज्यते अनेन तदीय प्रयोजनम् । फल साधनञ्च व्युत्पत्तिरिय प्रतीतिपथं अवतरत्येत्र शाब्दिकदार्शनिकालंकारिकादि समस्त शास्त्रार्णव मन्थायमान बुद्धिवण्डानामपरोक्षोऽयमर्थ. ।

महामहिमशालिन अमूल्यमणि-माणिक्यनिधय, सरस्वती समुपासका: सज्जनाः । प्रस्तुत विषयो गभीरो विचारणीयश्च । इद तावत् अतिस्फुट यत् विचारविषयतायाः संदिग्धतायाश्च कश्चनातिनिकटो अविनाभावसम्बन्धो धूम-धूमध्वजयोरिवास्ति । तथा च न्यायविदा रहस्यमय वचनम्—नासंदिग्धोविचार्यते । परन्तु विलसतिभिः तर्कप्रमाथ युक्तिभिः प्रमाणयितुं साधयितुमिद शक्यते यद् वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्थाया वैज्ञानिकता अनिच्छद्भिरपि सर्वैर्मानयितव्या । यदा भवद्भि. वैदिक वर्णव्यवस्था इति कथ्यते तदा अमुष्या प्रमाणिकता सुतरामेव स्वतः सिद्धा सम्पद्यते ।

'यतोहि वेदे भवा वैदिकी' इति 'अध्यात्मादिभ्यः ठञ्' इति ठञ् प्रत्ययेन वैदिकी शब्दो सिद्धयति, वेदाना स्वतः प्रामाण्यम् सनेऽपि उच्चैशिरसो दार्शनिक मन्यन्ते एव। यदा च प्रतिपादकस्य प्रामाणिकता कस्यापि नास्ति सदिग्धा तदा प्रतिपाद्यस्य वर्णव्यवस्थादिकस्य प्रमाणिकता विषये सन्देहोऽपि न जागर्ति कुतो विचारणीयता। बहव खलु उच्चावच यज्ञानुष्ठानादयः मानवाना दैनन्दिनिक नित्य-नैमित्तिक आचारादयः आत्मानात्ममोक्षविद्या प्रभृतयः ऐहिकमुष्मिक फलकाः अनेके अन्ये च सिद्धान्ता विषयाश्च वेदे प्रतिपादिता, समेऽपि विषया सहृदयैर्विद्वद्भिरहम-हमिकया स्वीक्रियन्ते विशिष्ट ज्ञान जनका. विलक्षणज्ञानफलका चामी इति मन्यन्ते। यथाहि दार्शनिकाना तत्त्वमस्यादि महावाक्याना परिशीलनेन सर्वेरपि निरतिशय सुखरूप मोक्षफल बुध्यते।

ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत एवं प्रभृतिभिः ऐहिक पारलौकिक फल प्रयच्छद्भिः अनुष्ठाने प्रतिपादितम् सम्पन्नञ्च फल, सत्यमेक असदिग्धमेव मन्यन्ते भवन्तः तर्हि किमपराद्धम् वैदिकवर्णव्यवस्थाया वैज्ञानिकता भवनेन।

महानुभावा विद्वांसः मदीय विचारसरण्याम् इदमेव केवलं एकं विदुषा महनीयम् कर्तव्यमस्ति इत्याभाति यद् जनतासु तत्तद् विषये प्रसृता प्रसारिता च भ्रान्तिरेव अपसारणीया। तथा च वैज्ञानिक शब्दस्य यथा मया शब्दानुशासन शास्त्रमनुसरता व्युत्पत्तिर्निवेदिता तदनुसारेण सक्षेपेण वैज्ञानिकतालंकृतया वर्णाश्रम व्यवस्थाया वैज्ञानिकता वैज्ञानिक शब्दान्वर्थकता च सुतरामेव विलसति। अनयैव व्यवस्थाया अनेकशोभारतस्य भारतस्य प्राचीना दार्शनिकाः औपनिषदिकाः कर्मकाण्डविषयकाश्च पन्थानः अनादिकालतः प्रचलिताः। अद्यावधि यावत् रेखामात्रमपि स्वावलम्बितम् अध्वान विमुञ्चन्ति। यदा तु एतादृशीभिः व्यवस्थाभीर हीताना अन्येषां पश्चिमादि देशाना प्राचीना व्यवस्थाः कस्मिश्चिदन्धकारगर्ते निमग्ना न खलु जगति स्वजीवित चिह्नं धारयन्ति। अमूषु वर्णाश्रमादि व्यवस्थासु स्वार्थान्धरैव कैश्चिद् स्वदुरभिसन्ध्या जनतासु व्यामोहो वितान्यते। उचित तु इदं यत् सम्प्रति सौमनस्य समन्वितया यया व्यवस्थया प्रजासु स्नेहस्य परस्पर भ्रातृभावस्य प्रबल समुन्मेषो भवेत् सा सरणि सर्वेरपि सज्जनै जनै सम्मिलित प्रयासेन अङ्गीकर्तव्या अङ्गीकरणीया च। नास्ति जगति इद्दशोरोगो यस्य न स्यान्निदानम्। अस्मिस्तु लघुतम लेखे विचारणीय विषयस्य सम्प्रति बाहुल्य विस्तरादहम् बिभेमि। अत. यथा समयं व्याख्याय विषयं विरमामि। इत्यलम्।

"Scientific Base of Vedic Varna System"

Nagendra Nath Misra

HINDU SOCIETY is very ancient and complex With the passage of time, many traditions and ideas, have got roots in our social organisation Varna vyvastha, Dharma, Karma and Ashramas are some such systems, which cannot be seperated from our social organisation. With the advancement and spread of education, every system is being scientifically examined and put to the test of time. On the whole the Hindu Society's faith in Dharma and Karma remains unshaken and highly firm and every Hindu is bound to believe basically in the theory of Dharma end Karma.

MEANING OF VARNA

In Nirukta Shri Yaskacharya evolved the word Varna, from the root "Vri" giving the meaning of choice of Varna In this way, Varna is that which a person chooses according to his nature and his work. According to P.V. Kane the word V rna was applied to white complexioned Aryans and black complexioned slaves At a later stage the word came to be used for the four social classes ie. Brahmin, Kshatriya, Vaishya and Shudra.

DIVISION OF LABOUR

The aim of the four Varna system in India was division of labour, similar to the division of labour of Plato end wells. The theory of division of labour is one of the fundamental theories of social organisation. It propounds that for an orderly progress of work in society, it is necessary that it be divided into classes according to natural tendencies. Dr. Bhagwan Das has divided labour under the Indian Varna system in the following classes :-

1) Teacher Class
2) Governing Class
3) Business Class
4) Physical Labourer Class

These are respectively the Brahmins, the Kshtriyas, the Vaishyas and the Shudras. Thus the responsibility of the Brahmins was to see to the proper execution of works like study for knowledge and teaching, and other religious activities. The governoment of the state defence and direction were left to the Kshatriyas while the Vaishyas carried on the Agriculture dairy farming and business. The Shudras served the other three Varnas. It is pertinent that this class division is not peculiar to India, it has been the comman feature of all the organised societies of the world.

EXCELLENT AND DEVELOPED SOCIAL ORDER

The Varna system is a developed social system. Social Stratification is found in all the societies but it is difficult to find one as systematic as the Indian Varna system. The object of this system is to put the different powers of man to proper and productive uses in order to maintain the solid, organised and balanced state of society The Indian scholars-ancient medieval and modern, like Plato of Greece and other world-wide experts gave the highest position in society to Brahmins, experts in the field of thought and spirit The second place was given to the protectors the Kshatriyas and third to the producer, the Vaishyas and the servants of the society in the fourth place. In the Varna system the higher classes get special rights and prerogatives but special responsibility corresponding to their authority is also attached to it This is clear from the provision for punishment made by the penal authorities According to MANU, the retribution made for theft should be of the value of 8 times in the case of Shudra, 16 times if the person is a Vaishya, 32 times if a Kshatriya and 64 or 100 times If a Brahmin.

DECENTRALISATION

In this modern age we often talk of decentralisation of power and authority In the Varna system there was clear glimpse of decentralisation of power. Cetralisation of all the powers of the society in the hand of one class may lead to exploitation and despo-

tism. In the Varna system the bower of shastra or power of know ledge. Power of arms, Powar of wealth, and power of labour were evenly distributed among the Brahmins, the Kshtriyas, the Vaishyas and the Shudras respectively.

In this way, society is made safe from the evil results of centralisation. The reward of their work differed. The Brahmins were rewarded in the form of respect, the Vashyas in wealth and Shudra in rest etc. Thus, by keeping rrspect authority and wealth seperate, the society was saved from the present day defects of cetralisation or localisation of power. In this way the Varna system showed a fine synthesis of the fundamentals of social organisation.

The system also resulted in harmonious division of work in the society. Each Varna had its own funtions to perform with the result that there was no vocational disharmony. The system thus helped in the preservance of social integrity. It provided such a sound constitution to the society that it saved it from shattering into pieces, inspite of many political and religious upheavals which rocked the country during the post thousand years. Thus the system was rightly responsible for stability and contentment by which Indian society has been traced for centuries by others for dignity and decency of head and heart, at all levels.

FOOT NOTES

Since Independence in India every governoment is trying to end cast-system but still it persists because there were and still are certain favourable conditions for it. Some important changes in castesystem, which are evident in India presently are ·—

a) The Brahmanic-cult has been challanged. However I feel the pros and cons of the particular issue should be studied before raising an issue just for the shake of opposition. I feel only the scientific analysis is the only solution, instead of fighting issues by differedt groups which will only divided our society.

b) Inter-cast marriages are increasing and should be encouraged as far as possible is healthy—spirit.

c) Orthodoxy of the orthodox people have come under severe criticism.

d) Criticising the Varna-system oulv for the shake of criticism, gives a sense of advancemet to few, who have attained power. Latest example - The removal of Sri T.S.R. Subramaniyam the chief secretary of Uttar-Pradesh (U.P.), only because he was a Brahmin and was not liked by particular section of the Ruling party members of U.P. Government. I feel the only solution is that "work-culture" should be gived credenca than the Birth on the Varna of the person. It is time we should not stretch things too far only to create distrust among the Varnas.

e) It is pertinent and healthy that today people meet quite frequently irrespective of Varna-consideration at several functions. It is mainly owing to industrialisation and cosmopolitanism way of life.

f) Similarly—owing to scientific advancement and rapid technology and computer envirnoment the people do not follow the Varna-system rigidly. They follow concerned occupations of their choice. The parents irrespectives of Varna system should not be very rigid and allow ther children to choose their subject of study and career, with freedom. Any imposition and regimentation by parents to choose a career of their own liking for the sons and daughters will be counter productive. In fair play it is better to leave it to children However the parents can give guidence or can take the help of teachers, psychologists or career guidence bureau establised in the town or cities.

g) The political people often exploit the caste and Varna system to grind their own axe. Often we hear of "Vote-banks", where elections are fought on caste consideration. On the one hand owing to political patronage they talk of "Mandal Commission" while in reality they perpetuate their own family creed. It is time that the benefit should reach the common man, living in village.

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम– ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का सांस्कृतिक अध्ययन।

लेखक– डा० बलबीर आचार्य

प्रकाशक– विद्यानिधि प्रकाशन D– १५४८, गली नं. १०

समीप श्री महागौरी मन्दिर खजूरीखास

दिल्ली—११००६४

वैदिक साहित्य के बारे मे भिन्न–भिन्न मत हैं। कुछ विद्वान् अपौरुषेय कहते है और कुछ जिनमें कि पाश्चात्य विद्वानों का बहुमत है उन्हे तत्कालीन जीवन का आर्थिक सामाजिक व सांस्कृतिक वर्णन मात्र मानते हैं।

प्रत्येक वेद के अपने ब्राह्मण है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डा० बलवीर आचार्य वैदिक साहित्य व संस्कृत साहित्य के विद्वान् हैं। उनका अध्ययन भी गुरुकुलीय परम्परा से हुआ है। वर्तमान मे वे महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग में रीडर है।

प्रस्तुत पुस्तक में पशु हिंसा व पशुयज्ञ पर आठवें अध्याय मे विशेष वर्णन किया गया है जो कि अब तक प्रकाशित अन्य ग्रथो मे अप्राप्य है।

प्रथम अध्याय विषय प्रवेश का है। इसमे सास्कृतिक ज्ञान की आवश्यकता, संस्कृति शब्द का अर्थ, ब्राह्मण शब्द का अभिप्राय, वर्ण विषय, ब्राह्मण साहित्य, रचना काल, ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थो का परिचय और भौगोलिक तत्त्व का वर्णन है। इसमें ब्राह्मण शब्द का वर्णन करता हुआ लेखक लिखता है— समाज का कथन है कि "जो परम्परा से मन्त्र नही वह ब्राह्मण है और जो ब्राह्मण नही वह मन्त्र है।" आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र की व्याख्या में कपर्दी का कथन है कि "मनन करने से मन्त्र होते हैं तथा अभिधान करने से मन्त्र ब्राह्मण।" बौधायन धर्म सूत्र मे 'वाक्' को ब्राह्मण कहा है। उव्वट तथा महीधर ने श्रुति शब्द का अर्थ ब्राह्मण किया है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द "ब्राह्मण ग्रन्थ" तथा "सन्दर्भ विशेष" को द्योतित करता है। वेबर ने ब्राह्मण शब्द का अर्थ प्रार्थना किया है।

द्वितीय अध्याय मे पारिवारिक संगठन का वर्णन है। इसमें गोत्र, प्रवर, परिवार में विघटन, दाम्पत्य जीवन एवं विवाह, धर्म का पालन आदि का वर्णन है। इसमें लेखक अध्याय के प्रारम्भ में लिखता है— परिवार का आधार यौन सम्बन्ध है, जबकि स्त्री–पुरुष के संयोग से सन्तान उत्पन्न होती है। तदनन्तर परिवार के माध्यम से ही सन्तान का लालन-पालन, धारण–पोषण, सेवा–शुश्रूषा होती है। परिवार ही गृहस्थ जीवन मे मनुष्य अपने समस्त उत्तरदायित्वो का निर्वाह निष्ठापूर्वक करता है

और सभी पारिवारिक सदस्यो से व्यक्तिगत और भावनात्मक रूप में आबद्ध होता है। पारस्परिक सहयोग-भावना एवं कर्त्तव्य-बोध परिवार के सदस्यों का मूल आधार है।

तृतीय अध्याय में सामाजिक संगठन वर्णित है। इसमें संकलित विषय है— वर्णव्यवस्था का प्रारम्भ, सामाजिक स्थिति, धार्मिक कर्मकाण्ड का योग, राजसंस्था का योग, ब्राह्मण और राजनीति, क्षत्रिय शूद्र और वैश्यो के गुण कर्त्तव्य और सामाजिक स्थिति।

चतुर्थ अध्याय मे तत्कालीन राजनीतिक संगठन का विषय संकलित है। इसमें राज्य की उत्पत्ति स्थापना, शासन पद्धति, साम्राज्य पद्धति, भौज्य पद्धति, स्वराज्य पद्धति, वैराज्य पद्धति, पारमेष्ठ्य पद्धति, राज्य पद्धति, राजा के गुण, कर्त्तव्य, शक्ति और अधिकार, राज्य की आर्थिक स्थिति आदि।

पञ्चम अध्याय में आर्थिक स्थिति के अन्तर्गत कृषि, पशु, वाणिज्य, शिल्पकला, आवास, परिधान, आदि।

षष्ठ अध्याय में वर्णित विषय है— ज्ञान एवं विज्ञान। इसके अन्तर्गत शिक्षा, शिक्षा केन्द्र, अध्यापन पद्धति आदि का वर्णन है।

सप्तम् अध्याय के अन्तर्गत ऋषि और देवता का वर्णन है। ऋषि नाम-गुणवाचक और सज्ञावाचक ऋषि मन्त्रद्रष्टा, मन्त्रकृत् शब्द पर विचार, देव शब्द का अर्थ आदि का वर्णन है।

अष्टम् अध्याय के अन्तर्गत यज्ञ का वर्णन है। इसमे देव पूजा, सङ्गतिकरण, दान, ऋग्वेदादि संहिताओ मे द्रव्य यज्ञ का विधान नही, याज्ञिक कर्मकाण्ड का विकास और पशुहिंसा का प्रारम्भ, ऋग्वेदादि संहिताओं मे पशु-यज्ञ का विधान नही है आदि का वर्णन है। ऋग्वेदादि सहिताओ मे पशु यज्ञ का विधान नही इसके पक्ष मे लेखक ने विद्वत्तापूर्वक तर्क दिये है।

शशिभानु विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय